माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन ग्रन्थमाला पुष्प ४४

श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिता

स्याद्वादसिद्धिः

•••०❁०•••

झाँसी-मण्डलान्तर्गत 'सौंरई (श्रमणपुरी)' वास्तव्येनाध्यात्मक-
मलमार्त्तण्डाऽऽप्तपरीक्षा-न्यायदीपिका-शासनचतुस्त्रिंशिका-
श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्रादिग्रन्थसम्पादकेन 'कोठिया'
कुलोत्पन्नेन 'न्यायाचार्य' इत्युपाधिधारिणा

पण्डितदरबारीलालशास्त्रिणा

सम्पादिता संशोधिता हिन्दी-
सारांश-प्रस्तावनादि-
समलंकृता च

•••०○०•••

प्रकाशिका

श्रीमाणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थमालासमितिः

प्रकाशक—

नाथूराम प्रेमी

मंत्री, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला

हीराबाग, बम्बई ४

दीपावली, वीर-नि० सं २४७७

वि० सं० २००७, सन् १९५०

मूल्य १॥)

मुद्रक—

अजितकुमार शास्त्री

अकलंक प्रेस,

सदरबाजार, देहली।

प्रकाशककी ओरसे

•••○○○•••

कविवर हस्तिमल्लके अञ्जनापवनंजय और सुभद्रा नाटकोंके बाद माणिकचन्द्र ग्रन्थमालाका यह ४४ वाँ ग्रन्थ 'स्याद्वादसिद्धि' प्रकाशित होरहा है। इस अपूर्ण ग्रन्थकी केवल एक ही हस्तलिखित प्रति मूडबिद्रीके जैनमठसे प्राप्त हुई थी, और उसीके आधारसे न्यायाचार्य पंडित दरबारीलालजी कोठियाने इसका सम्पादन और संशोधन किया है। उन्होंने इसके लिए काफी परिश्रम किया है और ग्रन्थका परिचय तथा सारांश लिखकर उसे जिज्ञासुओंके लिए उपयोगी बना दिया है। इसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं। 'ज्ञानोदय' सम्पादक पं० महेन्द्रकुमारजीने ग्रन्थका प्राक्कथन लिखकर ग्रन्थमाला को बहुत ही उपकृत किया है।

ग्रन्थकर्ता और उसके समयके सम्बन्धमें सम्पादकने विस्तार से चर्चा की है और यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि वादीभसिंह ईसाकी आठवीं-नवीं शताब्दिके विद्वान हैं परन्तु मेरी समझमें आदि-पुराणोल्लिखित वादिसिंह और वादीभसिंह एक नहीं हैं और वादीभसिंह के गुरु पुष्पसेन और अकलंकदेवके सधर्मा पुष्पसेनकी एकता भी शंका-स्पद है। यदि गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणिके कर्ता ही स्याद्वाद-सिद्धिके रचयिता हैं तो वे उन पुष्पसेनके शिष्य थे जिनके संघका या जिनकी गुरुपरम्पराका कुछ पता नहीं है और जिनका पूर्व नाम ओडयदेव था। इस नामपरसे वे श्री बी० शेषागिरि राव एम० ए० के अनुमानके अनुसार गंजाम (उड़ीसा) के आस-पासके मालूम होते हैं और उनका समय विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके लगभग होना चाहिए। मैं अपने 'महाकवि वादीभसिंह' शीर्षक लेखमें* इन बातोंको विस्तार-

---

* जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४७७-८२

पूर्वक लिख चुका हूँ। जबतक और कोई नये पुष्ट प्रमाण उपस्थित नहीं होते, तबतक मैं अपनी धारणाको बदलनेका कोई कारण नहीं देखता।

ग्रन्थमाला का ४६ वाँ ग्रन्थ जैन शिलालेखसंग्रह (द्वि० भाग) छप रहा है और आशा है कि वह इस वर्षके अन्त तक प्रकाशित हो जायगा।

हीराबाग, बम्बई
२०–८–५०

—नाथूराम प्रेमी,
मंत्री।

प्राक्कथन

—:※:—

भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी कन्नड़-शाखा द्वारा भंडार-सूची निर्माणके समय जो अनुपलब्ध ग्रंथ मिले थे उनमें वादीभसिंह सूरि द्वारा रचित स्याद्वादसिद्धि भी है। इसकी एकमात्र जीर्ण-शीर्ण खंडित प्रति मूडबिद्रीके जैन भंडारसे उपलब्ध हुई थी।

प्रसन्नताकी बात है कि यह कृति दिगम्बर जैन साहित्यकी उद्धारक आद्य संस्कृत-ग्रन्थावलि माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथमाला-में इस विषयके अध्ययन-प्रवण विद्वान् पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो रही है। दर्शनग्रंथोंके सम्पादनमें अब आन्तरिक विषय-परिचयका भी एक विभाग रहना चाहिए, जिसमें ग्रन्थगत विषयोंका मुद्देवार संक्षिप्त सार आ जाय। इससे जिज्ञासुओंकी अंशतः जिज्ञासा-तृप्ति तो होगी ही, साथ ही साथ इस साहित्यके प्रचार, पठन-पाठन आदिकी ओर अभिरुचि भी जागृत होगी।

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम तो स्याद्वादसिद्धि है पर इसमें जीव-सिद्धि, सर्वज्ञसिद्धि, जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि आदि अनेक प्रकरण हैं। ग्रन्थकारका स्पष्ट आशय है कि सब प्राणी सुख चाहते हैं पर सुखके उपायका उन्हें ज्ञान नहीं है। अतः हम सुखका कारण धर्म और धर्मकर्तृत्व कैसे जीवके हो सकता है उसका निरूपण करते हैं। स्याद्वादके विषयभूत जीवमें ही धर्मका कर्तृत्व और उसके फलका भोक्तृत्व बन सकता है यह प्रतिपादन करनेके प्रसंगसे ही अन्य प्रकरणोंका निर्माण हुआ है।

अनेकान्त दर्शनकी पृष्ठभूमि—

ज्ञान सदाचारको जन्म दे सकता है यदि उसका उचित दिशामें उपयोग हो। अतः ज्ञान मात्रज्ञान होनेसे ही सदाचार और शान्तिवाहकके पदपर नहीं पहुंच सकता। हाँ, जो ज्ञान जीवन-साधनासे फलित होता है उस स्वानुभवका तत्त्वज्ञानत्व और जीवनोन्नायक सर्वोदयी स्वरूप निर्विवादरूपसे स्वतः सिद्ध है। पर प्रश्न यह है कि तत्त्वज्ञानके बिना क्या केवल आचरण मात्रसे जीवनशुद्धि हो सकती है और उसकी धारा चल सकती है? क्या कोई भी धर्मपन्थ, समाज या संघमें बिना तत्त्वज्ञानके सदाचार मात्रसे, जो कि प्रायः सामान्यरूपसे सभी धर्मोंमें संस्कृत है, अपनी उपयोगिता और विशेषता बना सकता है? और अपने अनुयायिओंकी श्रद्धाको जीवित रख सकता है?

बुद्धका अव्याकृतवाद—

बुद्ध और महावीर समकालीन, समदेश और सम-संस्कृतिके प्रतिनिधि थे। उक्त प्रश्नोंके सम्बन्धमें बुद्धका दृष्टिकोण था कि आत्मा, लोक, परलोक आदिके शाश्वत, अशाश्वत आदि विवाद निरर्थक हैं। वे न तो ब्रह्मचर्यके लिए उपयोगी हैं और न निर्वेद, उपशम, अभिज्ञा, संबोध या निर्वाणके लिये ही।

मज्झिमनिकाय (२।२।३) के चूलमालुंक्यसूत्रका संवाद इस प्रकार है—

"एक बार मालुंक्यपुत्तके चित्तमें यह वितर्क उत्पन्न हुआ कि—भगवान्ने इन दृष्टियोंको अव्याकृत (अकथनीय) स्थापित (जिनका उत्तर रोक दिया गया) प्रतिक्षिप्त (जिनका उत्तर देना अस्वीकृत हो गया) कर दिया है—१ लोक शाश्वत है? २ लोक

अशाश्वत है ? ३ लोक अन्तवान् है ? ४ लोक अनन्त है ? ५ जीव और शरीर एक है ? ६ जीव दूसरा और शरीर दूसरा है ? ७ मरनेके बाद तथागत होते हैं ? ८ मरनेके बाद तथागत नहीं होते ? ६ मरनेके बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी होते हैं ? १० मरनेके बाद तथागत न होते हैं न नहीं होते ? इन दृष्टियों को भगवान् मुझे नहीं बतलाते, यह मुझे नहीं रुचता = मुझे नहीं खमता। सो मैं भगवानके पास जाकर इस बातको पूछूँ। यदि मुझे भगवान् कहेंगे तो मैं भगवान्के पास ब्रह्मचर्य-वास करूँगा। यदि मुझे भगवान् न बतलाएँगे तो मैं भिक्षु-शिक्षाका प्रत्याख्यान कर हीन (गृहस्थाश्रम) में लौट जाऊँगा।

मालुंक्यपुत्तने बुद्धसे कहा कि यदि भगवान् उक्त दृष्टियोंको जानते हैं तो मुझे बतायें। यदि नहीं जानते तो न जानने समझने के लिए यही सीधी (बात) है कि वह (साफ कह दें) मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम।"

बुद्धने कहा—

"क्या मालुंक्यपुत्त, मैंने तुझसे यह कहा था कि आ मालुंक्यपुत्त, मेरे पास ब्रह्मचर्यवास कर, मैं तुझे बतलाऊँगा लोक शाश्वत है आदि।"

"नहीं, भंते" मालुंक्यपुत्तने कहा।

"क्या तूने मुझसे यह कहा था—मैं भन्ते, भगवान्के पास ब्रह्मचर्यवास करूँगा, भगवान मुझे बतलायें लोक शाश्वत है आदि।"

"नहीं, भंते"

"इस प्रकार मालुंक्यपुत्त न मैंने तुझसे कहा था कि आ.......;

न तूने मुझसे कहा था कि भंते..........। फिर मोघ पुरुष (फजूलके आदमी) तू क्या होकर किसका प्रत्याख्यान करेगा ?

मालुंक्यपुत्त, जो ऐसा कहे—मैं तब तक भगवान्‌के पास ब्रह्मचर्यवास न करूँगा जब तक भगवान् मुझे यह न बतलावें—लोक शाश्वत है आदि। फिर तथागतने तो उन्हें अव्याकृत किया है और वह (बीचमें ही) मर जायगा। जैसे मालुंक्यपुत्त, कोई पुरुष गाढ़े लेप वाले विषसे युक्त बाणसे विंधा हो उसके हितमित्र भाई-बन्धु चिकित्सकको ले आवें और वह (घायल) यह कहे—मैं तब तक इस शल्यको नहीं निकालने दूँगा जब तक अपने वेधने वाले उस पुरुषको न जान लूँ कि वह ब्राह्मण है ? क्षत्रिय है ? वैश्य है ? शूद्र है ? अमुक नामका अमुक गोत्रका है ? लंबा है नाटा है मंझोला है ? आदि। जब तक कि उस वेधने वाले धनुषको न जान लूँ कि वह चाप है या कोदंड। ज्याको न जान लूँ कि वह अर्ककी है या संठेकी ?..........तो मालुंक्यपुत्त वह तो अज्ञात ही रह जायँगे और यह पुरुष मर जायगा। ऐसे ही मालुंक्यपुत्त जो ऐसा कहे तब तक..........और वह मर जायगा। मालुंक्यपुत्त, 'लोक शाश्वत है' इस दृष्टिके होने पर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ? ऐसा नहीं। 'लोक अशाश्वत है' इस दृष्टिके होने पर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ? ऐसा भी नहीं। मालुंक्यपुत्त, चाहे लोक शाश्वत है यह दृष्टि रहे, चाहे लोक अशाश्वत है यह दृष्टि रहे, जन्म है ही, जरा है ही, मरण है ही, शोक रोना कांदना दुःख दौर्मनस्य परेशानी हैं ही, जिनके इसी जन्ममें विधानको मैं बतलाता हूं।..............

इसलिये मालुंक्यपुत्त मेरे अव्याकृतको अव्याकृतके तौरपर धारण कर और मेरे व्याकृतको व्याकृतके तौरपर धारण कर* ?"

---

*मज्झिमनिकाय हिन्दी अनुवाद।

इस संवादसे निम्न लिखित बातें फलित होती हैं—

१. बुद्धने आत्मा, लोक, परलोक आदि तत्त्वोंकी चर्चामें न अपनेको उलझाया और न शिष्योंको।

२. लोकको चाहे शाश्वत माना जाय या अशाश्वत। उससे ब्रह्म-चर्य धारण करनेमें कोई बाधा नहीं है।

३. बुद्धके उपदेशको धारण करनेकी यह शर्त भी नहीं है कि शिष्यको उक्त तत्त्वोंका ज्ञान कराया ही जाय।

४. बुद्धने जिन्हें व्याकृत कहा उन्हें व्याकृत रूपसे और जिन्हें अव्याकृत कहा उन्हें अव्याकृत रूपसे ही धारण करना चाहिये।

उस समयका वातावरण—

आजसे २५००-२६०० वर्ष पहलेके धार्मिक वातावरणपर निगाह फैंके तो मालूम होगा कि उस समय लोक, परलोक, आत्मा आदिके विषयमें मनुष्यकी जिज्ञासा जग चुकी थी। वह अपनी जिज्ञासाको अनुपयोगिताके आवरणमें भीतर ही भीतर मानसिक हीनताका रूप नहीं लेने देना चाहता था। जिन दस प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत रखा, उनका बताना अनुपयोगी कहा, सच पूंछा जाय तो धर्म धारण करनेकी आधारभूत बातें वे ही हैं। यदि आत्माके स्वतन्त्र द्रव्य और परलोकगामित्वका विश्वास न हो तो धर्मका आधार ही बदल जाता है। प्रज्ञा-पारमिताओंकी परिपूर्णताका क्या अर्थ रह जाता है? 'विश्वके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? वह कैसा है?' यह बोध हुए बिना हमारी चर्याका संयत रूप ही क्या हो सकता है? यह ठीक है कि इनके वाद-विवादमें मनुष्य न पड़े। पर यदि जरा, मरण, वेदना, रोग आदि के आधारभूत आत्माकी ही प्रतीति न हो तो दुष्कर ब्रह्मचर्यवास

कौन धारण करे ? बुद्धके समयमें ६ परिव्राजक थे। जिनके संघ थे और जिनकी तीर्थंकरके रूपमें प्रसिद्धि थी। सबका अपना तत्त्वज्ञान था। पूर्णकश्यप अक्रियावादी, मक्खलिगोसाल दैव-वादी, अजितकेशकम्बल जड़वादी, प्रकुधकात्यायन अकृततावादी, और संजय बेलट्ठिपुत्त अनिश्चयवादी थे। वेद और उपनिषद् के भी आत्मा, परलोक आदिके सम्बन्धमें अपने विविध मतवाद थे। फिर श्रमणसंघमें दीक्षित होने वाले अनेक भिक्षु उसी औप-निषद् तत्त्वज्ञानके प्रतिनिधि वैदिक वर्गसे भी आये थे। अतः जब तक उनकी जिज्ञासा तृप्त नहीं होगी तब तक वे कैसे अपने पुराने साथियोंके सन्मुख उन्नतशिर होकर अपने नये धर्म धारण की उपयोगिता सिद्ध कर सकेंगे ? अतः व्यावहारिक दृष्टिसे भी इनके स्वरूपका निरूपण करना उचित ही था। तीरसे घायल व्यक्तिका तत्काल तीर निकालना इसलिये प्रथम कर्त्तव्य है कि उसका असर सीधा शरीर और मनपर हो रहा था। यदि वह विषैला तीर तत्काल नहीं निकाला जाता तो उसकी मृत्यु हो सकती है। पर दीक्षा लेनेके समय तो प्राणोंका अटकाव नहीं है। जब एक तरफ यह घोषणा है—

"परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो नत्वादरात्" अर्थात् भिक्षुओ, मेरे वचनोंको अच्छी तरह परीक्षा करके ही ग्रहण करना, मात्र मुझमें आदर होनेके कारण नहीं।" तो दूसरी ओर मुद्देके प्रश्नोंको अव्याकृत रखकर और उन्हें मात्र श्रद्धासे अव्याकृत रूपमें ही ग्रहण करनेकी बात कहना सुसंगत तो नहीं मालूम होता।

महावीरकी मानस अहिंसा—

भगवान् महावीरने यह अच्छी तरह समझा कि जब तक बुनियादी तत्त्वोंका वस्तुस्थितिके आधारसे यथार्थ निरूपण नहीं

होगा तब तक संघके पंचमेल व्यक्तियोंका मानस रागद्वेष आदि पक्षभूमिकासे उठकर तटस्थ अहिंसाकी भूमिपर आ ही नहीं सकता और मानस संतुलनके बिना वचनोंमें तटस्थता और निर्दोषता आना संभव ही नहीं। कायिक आचार भले ही हमारा संयत और अहिंसक बन जाय पर इससे आत्मशुद्धि तो हो नहीं सकती। उसके लिये तो मनके विचारोंको और वाणीकी वितंडा प्रवृत्तिको रास्तेपर लाना ही होगा। इसी विचारसे अनेकान्त दर्शन तथा स्याद्वादका आविर्भाव हुआ। महावीर पूर्ण अहिंसक योगी थे। उनको परिपूर्ण तत्त्वज्ञान था। वे इस बातकी गम्भीर आवश्यकता समझते थे कि तत्त्वज्ञानके पायेपर ही अहिंसक आचारका भव्य-प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। दृष्टान्तके लिये हम यज्ञ-हिंसा सम्बन्धी विचारको ही लें। याज्ञिकोंका यह दर्शन था कि पशुओंकी सृष्टि स्वयम्भूने यज्ञके लिये ही की है, अतः यज्ञमें किया जाने वाला वध वध नहीं है, अवध है। इसमें दो बातें हैं—१ ईश्वरने सृष्टि बनाई है और २ पशुसृष्टि यज्ञके लिये ही है। अतः यज्ञमें किया जाने वाला पशुवध विहित है।

इस विचारके सामने जब तक यह सिद्ध नहीं किया जायगा कि—"सृष्टिकी रचना ईश्वरने नहीं की है किन्तु यह अनादि है। जैसी हमारी आत्मा स्वयं सिद्ध है वैसी ही पशुकी आत्मा भी। जैसे हम जीना चाहते हैं, हमें अपने प्राण प्रिय हैं वैसे ही पशुको भी। इस लोकमें किये गये हिंसाकर्मसे परलोकमें आत्माको नरकादि गतियोंमें दुःख भोगना पड़ते हैं। हिंसासे आत्मा मलिन होता है। यह विश्व अनन्त जीवोंका आवास है। प्रत्येकका अपना स्वतःसिद्ध स्वातन्त्र्य है, अतः मन वचन कायगत अहिंसक आचार ही विश्वमें शान्ति ला सकता है।" तब तक किसी समझदारको यज्ञवधकी निःसारता, अस्वाभाविकता और पापरूपता कैसे समझमें आ सकती है।

जब शाश्वत-आत्मवादी अपनी सभामें यह उपदेश देता हो कि आत्मा कूटस्थ नित्य है, निर्लेप है, अवध्य है, कोई हिंसक नहीं, हिंसा नहीं और उच्छेदवादी यह कहता हो कि मरने पर यह जीव पृथिवी आदि भूतोंमें मिल जाता है, उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता। न परलोक है और न मुक्ति ही। तब आत्मा और परलोकके सम्बन्धमें मौन रखना तथा अहिंसा और दुःख-निवृत्तिका उपदेश देना सचमुच बिना नींवके मकान बनानेके समान ही है। जिज्ञासु पहिले यह जानना चाहेगा कि वह आत्मा क्या है, जिसे जन्म, जरा, मरण आदि दुःख हैं और जिसे ब्रह्मचर्य-वासके द्वारा दुःखोंका नाश करना है? यदि आत्माकी जन्मसे मरण तक ही सत्ता है तो इस जन्मकी चिन्ता ही मुख्य करनी है। और यदि आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है तो उसे निर्लिप्त मानने पर ये अज्ञान, दुःख आदि कैसे आए? यही वह पृष्ठभूमि है जिसने भ० महावीरको सर्वांगीण अहिंसाकी साधनाके लिये मानस अहिंसाके जीवनरूप अनेकान्तदर्शन और वाचनिक अहिंसाके निर्दुष्टरूप स्याद्वादकी विवेचनाके लिये प्रेरित किया।

अनेकान्त दर्शन—

अनन्त स्वतन्त्र आत्माएँ, अनन्त पुद्गलपरमाणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्य कालाणुद्रव्य के समूहको ही लोक या विश्व कहते हैं। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंका विभाव परिणमन नहीं होता। वे अपने स्वाभाविक परिणमनमें लीन रहते हैं। आत्मा और पुद्गल द्रव्योंके परस्पर सम्बन्धसे ये शरीर, इन्द्रियां आदि तथा पुद्गलों के परस्पर संयोग-विभागसे ये पर्वत, नदी, पृथिवी आदि उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं। इनका नियन्ता कोई ईश्वर नहीं है। सब अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परिणमनमें अपने अपने संयोग-

त्रियोगोंके आधारसे नाना आकारोंको धारण करते रहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अनन्त धर्मोंका अविरोधी अखंड आधार है। उसके विराट् रूपको शब्दोंसे कहना असंभव है। उस अनन्तधर्मा या अनेकान्त वस्तुके एक-एक धर्मको जानकर और उस अंशग्रहमें पूर्णताका भान करने वाले ये मतग्रह हैं जो पक्षभेदकी सृष्टि करके राग-द्वेष, संघर्ष, हिंसाको बढ़ा रहे हैं। अतः मानस अहिंसाके लिये वस्तुके 'अनेकान्त' स्वरूप दर्शनकी आवश्यकता है। जब मनुष्य वस्तुके विराट् रूप तथा अपने ज्ञानकी आंशिक गतिको निष्पक्ष भावसे देखेगा तो उसे सहज ही यह भान हुए बगैर नहीं रह सकता कि—दूसरोंके ज्ञान भी वस्तुके किसी एक अंशको देख रहे हैं अतः उनकी सहानुभूति-पूर्वक समीक्षा होनी चाहिए। अपने पक्षके दुरभिनिवेशवश दूसरेका बिना विचारे तिरस्कार नहीं होना चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुके विचार करनेकी पद्धति अनेकान्तदर्शनका ही फल है।

तात्पर्य यह कि प्रत्येक पदार्थ अपने अपने गुण और पर्याय रूपसे परिणमन करता हुआ अनन्त धर्मोंका युगपत् आधार है। हमारा ज्ञान स्वल्प है। हम उसके एक-एक अंशको छूकर उसमें पूर्णताका अहंकार—'ऐसा ही है' न करें, उसमें दूसरे धर्मोंके 'भी' अस्तित्वको स्वीकार करें। यह है वह मानस उच्च भूमिका जिसपर आनेसे मानस राग, द्वेष, अहंकार, पक्षाभिनिवेश, साम्प्रदायिक मताग्रह, हठवाद, वितण्डा, संघर्ष, हिंसा, युद्ध आदि नष्ट होकर पर-समादर, तटस्था सहानुभूति, मध्यस्थभाव, मैत्री-भावना, सहिष्णुता, वीतरागकथा, अन्ततः विनय, कृतज्ञता, दया आदि सात्त्विक मानस अहिंसाका उदय होता है। यही अहिंसक तत्त्वज्ञानका फल है। आचार्योंने ज्ञानका उत्कृष्ट फल उपेक्षा—राग-द्वेष न होकर मध्यस्थ अनासक्त भावका उदय ही बताया है।

स्याद्वाद अमृतभाषा—

इस तरह जब मानस अहिंसाकी सात्त्विक भूमिकापर यह मानव आजाता है तब इसके पशुका नाश हो जाता है, दानव मानवमें बदल जाता है। तब इसकी वाणीमें सरलता, स्नेह, समादर, नम्रता और निरहङ्कारता आदि आ जाते हैं। स्पष्ट होकर भी विनम्र और हृदयग्राही होता है। इसी निर्दोष भाषाको स्याद्वाद कहते हैं। स्यात्–वाद अर्थात् यह बात स्यात्—अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे वाद—कही जा रही है। यह 'स्यात्' शब्द ढुलमुल यकीनी, शायद, संभवतः, कदाचित् जैसे संशयके परिवारसे अत्यन्त दूर है। यह अंश निश्चयका प्रतीक है और भाषाके उस डंकको नष्ट करता है जिसके द्वारा अंशमें पूर्णताका दुराग्रह, कदाग्रह और हठाग्रह किया जाता है। यह उस सर्वहारा प्रवृत्ति को समाप्त करता है जो अपने हकके सिवाय दूसरोंके श्रम और अस्तित्वको समाप्त करके संघर्ष और हिंसाको जन्म देती है। यह स्यात्‌वाद रूपी अमृत उस महान् अहंकार-विषमज्वरकी परमौषधि है जिसके आवेशमें यह मानवतनधारी तूफान या बबूलेकी तरह जमीनपर पैर ही नहीं टिकाता और जगत्‌में शास्त्रार्थ, वाद-विवाद, धर्मदिग्विजय, मतविस्तार जैसे आवरण लेता है। दूसरोंको बिना समझे ही नास्तिक, पशु, मिथ्यात्वी, अपसद, प्राकृत, ग्राम्य, धृष्ट आदि सभ्य गालियोंसे सन्मानित (?) करता है। 'स्याद्वाद' का 'स्यात्' अपनेमें सुनिश्चित है। और महावीरने अपने संघके प्रत्येक सदस्यकी भाषाशुद्धि इसीके द्वारा की। इस तरह अनेकान्तदर्शनके द्वारा मानसशुद्धि और स्याद्वादके द्वारा वचनशुद्धि होनेपर ही अहिंसाके बाह्याचार, ब्रह्मचर्य आदि सजीव हुए, इनमें प्राण आए और मन, वचन और कायके यत्नाचारसे इनकी अप्रमाद परिणतिसे अहिंसामन्दिरकी प्राणप्रतिष्ठा हुई। महावीरने बार-

बार चेतावनी दी कि 'समयं गोयम मा पमादए'—गौतम ! इस आत्ममन्दिरकी प्राणप्रतिष्ठामें क्षणमात्र भी प्रमाद न कर ।

आचारकी परम्पराका मुख्य पाया तत्त्वज्ञान —

इस तरह जब तक बुनियादी बातोंका तत्त्वज्ञान न हो तो केवल सदाचार और नैतिकताका उपदेश सुननेमें सुन्दर लगता है पर वह बुद्धि, तर्क, जिज्ञासा, मीमांसा, समीक्षा और समालोचना की तृप्ति नहीं कर सकता । जब तक संघके ये मानस विकल्प नहीं हटेंगे तब तक वे बौद्धिक हीनता मानस दीनताके तामस भावोंसे त्राण नहीं पा सकते और चित्तमें यथार्थ निर्वैर वृत्तिका उदय नहीं कर सकते । जिस आत्माके यह सब होना है यदि उसके ही स्वरूपका भान न हो तो मात्र अनुपयोगिताका सामयिक समाधान शिष्योंके मुँहको बन्द नहीं रख सकता । आखिर मालुंक्यपुत्तने बुद्धको साफ साफ कह दिया कि आप यदि नहीं जानते तो साफ साफ क्यों नहीं कहते कि मैं नहीं जानता—मुझे नहीं मालूम ।

जिन प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत रखा उनका महावीरने अनेकान्त दृष्टिसे स्याद्वाद भाषामें निरूपण किया* । उनने आत्माको द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत, पर्यायदृष्टिसे अशाश्वत बताया । यदि आत्मा कूटस्थ, नित्य, सदा अपरिवर्तनशील माना जाता है तो पुण्य-पाप सब व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि उनका असर आत्मापर तो पड़ेगा नहीं । यदि आत्मा क्षण-विनश्वर और धाराविहीन, निःसन्तान, सर्वथा नवोत्पाद वाला है तो भी कृत कर्मकी निष्फलता होती है, परलोक नहीं बनता । अतः द्रव्य-दृष्टिसे

---

* देखो प्रो० दलसुख मालवणिया लिखित जैनतर्कवार्तिककी प्रस्तावना ।

धाराप्रवाही, प्रतिक्षण-परिवर्तित संस्कारग्राही आत्मामें ही पुण्य-पापकर्तृत्व, सदाचार, ब्रह्मचर्यवास आदि सार्थक होते हैं। इनमें न औपनिषदोंकी तरह शाश्वतवादका प्रसंग है और न जड़वादियों की तरह उच्छेदवादका डर है। और न उसे उभयनिषेधक 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' जैसे विधिविहीन शब्दसे निर्देश करनेकी ही आवश्यकता है।

यही सब विचार कर भ० महावीरने लोक, परलोक, आत्मा आदि सभी पदार्थोंका अनेकान्तदृष्टिसे पूर्ण विचार किया और स्याद्वादवाणीसे उसके निरूपणका निर्दोष प्रकार बताया। यही जैन दर्शनकी पृष्ठभूमि है जिसपर उत्तरकालीन आचार्योंने शता-वधि ग्रन्थोंकी रचना करके भारतीय साहित्यागारको आलोकित किया। अकेले 'स्याद्वाद' पर ही बीसों छोटे-मोटे ग्रन्थ लिखे गये हैं।

इस अनेकान्तके विशाल सागरमें सब एकान्त समा जाते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकरके शब्दोंमें ये स्याद्वादमय जिनवचन मिथ्यादर्शनके समूहरूप हैं (इसमें समस्त मिथ्यादृष्टियां अपनी अपनी अपेक्षासे विराजमान हैं) और अमृतसार या अमृतस्वादु हैं। वे तटस्थवृत्तिवाले संविग्न जीवोंको अतिशय सुखदायक हैं। वे जगत्‌का कल्याण करें—

"भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥"

प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिमें इसीलिये स्याद्वादके प्रसंगसे सर्वथा नित्यत्व-अनित्यत्व आदिका निराकरण अनेक प्रकरणोंमें करके अन्तमें यही दिखाया गया है कि नित्यानित्यात्मक स्याद्वादरूप आत्मामें ही पुण्यपापकर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि बन सकते हैं। वही सुखके लिये प्रयत्न कर सकता है।

ग्रन्थकार वादीभसिंहके समयके सम्बन्धमें सम्पादकने पर्याप्त ऊहापोह करके उनका समय ई० ७७० से ८६० तक सिद्ध किया है। साथ ही बाधकोंका निराकरण भी किया है। पर "अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती" पदोंका साम्य आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। और यही एक ऐसा बाधक है जो सन्देहको थोड़ा अवकाश देता है। पर यदि आदिपुराणकारने इन्हीं वादिसिंहका उल्लेख किया है तो उक्त सन्देह निराधार हो जाता है। ऐसी दशामें यही मानना होगा कि परिमल कविने यहांसे इस परिमलका संचय किया होगा।

अन्तमें मैं सम्पादकके अध्यवसायकी सराहना करता हूँ और उनसे ऐसे ही अनेक ग्रन्थोंके संपादन-संशोधनकी आशा करता हूँ।

अन्तमें मैं समाज और साहित्यप्रकाशिनी संस्थाओंके संचालकोंसे एक निवेदन कर देना चाहता हूँ कि पुरातन आचार्यों की जीवन्त कृतियोंका उद्धार, सम्पादन-प्रकाशन आदि उद्धारकी भावनासे करें, 'इन्हें छपा कर क्या होगा?', 'यदि ये न छपतीं तो क्या काम रुक जाता?', 'छपा छपाकर रखते जाओ बिकती नहीं' आदि व्यापारिक भावनासे नहीं। साहित्यकार उस माँकी तरह है जो अपने ज्ञान-यौवनमें मानस-गर्भको धारण कर चिर-साधनाके बाद एक विचार-शिशुको जन्म देती है। उसके गर्भ-कालके भोजनके वजनसे उस शिशुको तौलना मातृत्वका अप-मान करना है। जड़से जड़ तो तौला जा सकता है पर उसकी चेतनाका भी क्या मोल-तोल किया जा सकता है? हम आज तक मनुष्य हैं, जैन हैं और अहिंसा तथा अनेकान्तदर्शनकी ज्योतिको अपने निर्बल जड हाथोंमें थामे हुए हैं। यह इन्हीं ग्रंथों की परम्पराका पुण्य फल है। अतः इन ज्योतिर्धरोंको स्नेहदान

दो जिससे ये टिमटिमाते रहें और जगत्को अपने अस्तित्वका भान कराते हुए प्रकाशपथ सुझावें।

समाजमें विद्वानोंकी संख्या सैकड़ोंमें है। पर इस ज्ञानयज्ञके होता कितने हैं? और समाजने बुद्धिपूर्वक कितनोंको इस ओर प्रेरित किया? यह प्रश्न ठंडे दिलसे उद्धारक वृत्तिसे सोचनेका है? आशा है इस नम्र और स्पष्ट निवेदन पर ध्यान जायगा।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
२-८-५०

महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
(स० मूर्तिग्रंथमाला भारतीय ज्ञानपीठ)

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
नेष्यतः (ष्टिता)	नेष्यतः (ते)	२	१
सद्हेतुकाता-	सद्हेतुकता-	३	८
चिच्चेत	चिच्चेति	१२	११
अन्यश्चा-	अन्यैश्चा-	३३	१
वर्णेष	वर्णेषु	३४	१३
सवस्तत्र	सर्वस्तत्र	३४	१४
वणादे-	वर्णादि-	३४	२२
तदुपमर्दनकार्या-	तदुपमर्दनं कार्या-	४०	२०
गुणत्रस्यविशे-	गुणत्वस्याविशे-	४७	१४
सशीत्य-	संशीत्य-	४८	१८

सम्पादनके विषयमें

आरम्भ और पर्यवसान

सन १९४७ में श्रीयुत पं० के० भुजबलिजी शास्त्री मूडबिद्रीकी कृपासे इस ग्रन्थकी प्रतिलिपि प्राप्त हुई। उस समय मैं अन्य ग्रन्थोंके सम्पादन-कार्यमें लगा हुआ था और इसलिये इसे सरसरी दृष्टिसे ही देख सका। इसके बाद यह कोई डेढ़ वर्ष तक वैसा ही पड़ा रहा। बादमें अवकाश मिलने पर इसे पुनः गौरसे देखा तो ग्रन्थ बहुत महत्वपूर्ण जान पड़ा, और तब अगस्त १९४८ के 'अनेकान्त' वर्ष ९, किरण ८ में 'वादीभसिंह सूरिकी एक अधूरी अपूर्व कृति—स्याद्वादसिद्धि' शीर्षक लेख द्वारा इस ग्रन्थका विस्तृत परिचय दिया और लिखा कि—'हम उस दिनकी प्रतीक्षामें हैं जब वादीभसिंहकी यह अमर कृति प्रकाशित होकर विद्वानोंमें अद्वितीय आदरको प्राप्त करेगी और जैनदर्शनकी गौरवमय प्रतिष्ठाको बढ़ावेगी। क्या कोई महान साहित्य-प्रेमी इसे प्रकाशित कर महत् श्रेयका भागी बनेगा और ग्रन्थ-ग्रन्थकारकी तरह अपनी उज्ज्वल कीर्तिको अमर बना जायेगा।' इसे पढ़कर श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीने ३ नवम्बर १९४८ को हमें एक पत्र लिखा—

'क्या इसकी एक ही प्रति उपलब्ध है ? जो प्रति उपलब्ध है क्या अकेली उसी परसे यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा सकता है ? क्या आप उसके सम्पादित कर देनेके लिये समय निकाल सकते हैं ? मैं सोचता हूँ कि यदि हो सके तो यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे छपा दिया जाय। इधर ६–७ वर्षसे ग्रन्थमालामें कोई ग्रन्थ नहीं छपा।'

प्रेमीजीके इस पत्रको प्राप्त कर हमने इसके सम्पादनादिकी

उन्हें सहर्ष स्वीकारता दे दी और ७ नवम्बर १९४८ को उसका कार्यारम्भ भी कर दिया। परन्तु ग्रन्थकी प्राप्त प्रतिलिपि बहुत ही अशुद्ध और त्रुटित होनेसे प्रेसकापीका मूल ताडपत्रीय प्रतिसे, जो मूडबिद्रीके जैन-मठके भण्डारमें सुरक्षित है और जिसके वहाँ होनेका पता पीछे मालूम पड़ा, मिलान किये बिना उसे प्रेसमें देना उचित एवं इष्ट नहीं समझा। अ.त. उसे मंगानेके लिये हमने पं० के० भुजबलिजी शास्त्रीको पत्र लिखा। शास्त्रीजीने उक्त प्रति हमें तुरन्त भेज दी। पर मूल प्रति कन्नड लिपिमें होने तथा सरसावामें आसपास उसका कोई जानकार न होनेसे ग्रन्थका काम दो-ढाई महिने रुका पड़ा रहा। १८ फरवरी १९४९ को जब युक्त्यनुशासनके मिलानकार्यसे बनारस जाना पड़ा तो वहाँ पं० देवरभट्टजी न्यायाचार्यके साथ, जो कन्नड तथा संस्कृत दोनोंके योग्य विद्वान् हैं, इसका मूल प्रतिसे मिलान किया गया। मिलान करने पर प्राय: सभी अशुद्ध पाठ ठीक होगये और कुछ त्रटित पाठ भी पूरे होगये; क्योंकि मूल ताडपत्र प्रति प्राय: शुद्ध है और अच्छी तरह पढ़ी जाती है। मिलानसे जो सबसे बड़ा फायदा हुआ वह यह हुआ कि प्राप्त प्रतिलिपिमें जो चौदहवें प्रकरण-की ५७ से ७० तक १४, ब्रह्मदूषणसिद्धि प्रकरणकी ५२ से १८९ तक १३८ और अन्तिम प्रकरणकी ६$\frac{1}{2}$ = १५८$\frac{1}{2}$ के लगभग कारि-काएँ एवं उपलब्ध अन्तिम डेढ़-दो अधूरे प्रकरण छूटे हुए थे वे सब इस मिलानसे प्रकाशमें आगये। आश्चर्यकी बात है कि इतनी कारिकाएँ एवं प्रकरण-के-प्रकरण लेखकने छोड़ दिये थे!

यहाँ उल्लेखनीय है कि इसी मिलानके दौरानमें माननीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यसे भी इस ग्रन्थकी एक प्रतिलिपि प्राप्त होगई, जो उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ काशीके लिये कन्नड-शास्त्राद्वारा कराई थी। इसमें उक्त सब कारिकाएँ व प्रकरण मौजूद हैं।

इस तरह ग्रन्थको मूल ताडपत्र प्रतिसे मिलानादि द्वारा प्रेसमें देने योग्य बनाकर उसे जुलाई १९४९ में अकलङ्क प्रेस, देहलीको छपनेके लिये दे दिया और ७ अप्रेल १९५० तक वह प्रस्तावनादि सहित छपकर तैयार होगया। किन्तु दुःख है कि कुछ विघ्न-बाधाओं एवं कारणोंसे, जिनमें मेरे शिशुका जन्म लेकर १८ दिन बाद वियोग हो जाना भी एक खास कारण है और जिसने बहुत ही उत्साह भङ्ग किया, ग्रन्थको जल्दी प्रस्तुत नहीं कर सके।

प्रति-परिचय

ग्रन्थके संशोधन और सम्पादनमें हमने मुख्यतः 'त', 'स' प्रतियों और कहीं-कहीं 'क' प्रतिका भी उपयोग किया है। इन तीनों प्रतियोंका परिचय इस प्रकार है:—

१. त प्रति—यह ताडपत्रज्ञापक 'त' संज्ञक मूल ताडपत्रीय प्रति है जो 'स', 'क' दोनों प्रतियोंकी मातृप्रति है। मूडबिद्रीके जैन-मठके भण्डारमें जो ६०९ संख्याङ्कित ताडपत्रीय ग्रन्थ है और जिसमें ५५६ पत्र हैं उसीमें यह 'स्याद्वादसिद्धि' है। उसमें यह २३६ वें पत्रसे २५६ वें पत्र तक है। बीचमें २४७ से २५३ तक ७ पत्र गायब (नष्ट) हैं। अतः उपलब्ध ग्रन्थका लेख २३६ से २४६ तक ११ और २५४ से २५६ तक ३ कुल ११+३=१४ पत्रोंमें पाया जाता है। इन १४ पत्रोंमें ६७० कारिकाएँ हैं। २५६ से आगे कई पत्र उक्त ताडपत्र ग्रन्थमें नहीं हैं और इसलिए प्रस्तुत 'स्याद्वादसिद्धि' अपूर्ण एवं अधूरी ही उपलब्ध है। जो सात पत्र गायब हैं उनमें लगभग ३५० कारिकाएँ होनी चाहिएं; क्योंकि एक-एक पत्रमें प्रायः ४०-५० कारिकाएँ पाई जाती हैं। यदि ये सात पत्र और होते तो ३५०+६७०=१०२० कारिकाओंका यह एक अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ जैनवाङ्मयकी अद्वितीय निधि होता।

फिर भी ६७० जितनी कारिकाओंवाला भी यह ग्रन्थरत्न जैन-दार्शनिक ग्रन्थोंके कोषागारको अपनी आभासे चमचमा देगा और उनमें प्रमुख स्थान ग्रहण करेगा। यह ताडपत्रीय प्रति अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण है और दीमकोंने उसके आदि, मध्य और अन्तके हिस्सोंको खा लिया है तथा अन्तके तीन पत्रोंको तो उन्होंने बहुत ही ज्यादा खा लिया है—पाद-के-पाद और कारिकाएँ-की-कारिकाएँ नष्ट होगई हैं। यह प्रति अनुमानतः एक हजार वर्षसे कमकी पुरानी नहीं होगी। पत्र लम्बेनुमा हैं और एक-एक पत्रके तीन-तीन भाग हैं तथा प्रत्येक भागमें ६–६ पंक्तियाँ एवं प्रत्येक पंक्तिमें लगभग ६३-६३ अक्षर हैं। एक पृष्ठमें २५ अथवा एक पत्रमें ५० कारिकाएँ हैं। काश! यह १४ पत्रात्मक प्रति भी न मिली होती तो जैन-वाङ्मयकी इस अमर कृतिके सम्बन्धमें इन दो शब्दोंके लिखनेका भी अवसर न मिलता।

२. स प्रति—आरम्भमें हमें यही प्रति मिली थी और जिस परसे प्रेसकापी तैयार करनेमें इसके काफी अशुद्ध होनेसे दुहरा-तिहरा परिश्रम करना पड़ा। यह सरसावाबोधक 'स' नामक प्रति है। इसमें ८६ पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठमें ११–११ पंक्तियाँ तथा एक-एक पंक्तिमें प्रायः १८–१८ अक्षर हैं। कागज २०×३०/८ पेजी बादामी रंगका है और प्रतिलिपि नीली स्याहीसे लिखी पुष्ट है। इसमें कारिकाओंकी संख्या ताडपत्र प्रतिके अनुसार प्रकरणगत न देकर समग्र ग्रन्थकी दी है और वह १ से लेकर ५०१ तक है। कहीं-कहीं यह संख्या गलत भी लिखी गई है और 'अभाव-प्रमाणदूषणसिद्धि' नामके १२ वें प्रकरणमें ४२१ की संख्याके बाद अगली कारिकाकी, जिसकी प्राकरणिक क्रमसंख्या १३ है, ४३२ न लिखकर ४२२ लिखी गई है और इस तरह आगे सब जगह ११ कारिकाओंका फेर पड़ गया है।

३. क प्रति—यह भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी प्रति है, जो सुवाच्य तथा सुन्दर अक्षरोंमें लिखी हुई है और जो २०×३०/८ पेजी सफेद रूलदार पुष्ट कागज पर नीली स्याहीसे लिखी है। इसका काशीसूचक 'क' नाम है। 'स' प्रतिसे यह प्रति कम अशुद्ध है।

संशोधन और त्रुटित पाठपूर्ति

ऊपर कहा गया है कि आरम्भमें जो प्रति प्राप्त हुई थी उसमें बहुत अशुद्धियां, पाठभेद और त्रुटित पाठ विद्यमान हैं। उनका संशोधन हमने मूल ताडपत्र प्रतिके आधारसे किया है और संशोधनमें उससे बड़ी सहायता ली है। ताडपत्र प्रतिमें जो पाठ त्रुटित हैं और जिनकी संख्या बहुत बड़ी है उनमें सौ-डेढ़सौ त्रुटित पाठोंकी पूर्ति विषयसंगति, सन्दर्भ और प्रकरणके अनुसार हमने यथाशक्ति अपनी ओरसे करनेका प्रयत्न किया है और उन्हें [ ] ऐसे ब्रेकटमें रखा है। तथा शेषको समय एवं श्रमसाध्य जानकर छोड़ दिया है। उदाहरणके तौरपर कुछ पाठभेदात्मक संशोधनों और त्रुटित पाठोंकी पूर्तिको नीचे दिया जाता है, जिससे पाठक उनकी संगति एवं प्रामाणिकता आदिको कुछ जान सकेंगे:—

संशोधन—

त	स	क
दैत्याहृष्टद्वयोः (७-१४)	दैत्याहृष्टद्वयोः	दैत्योत्कृष्टद्वयोः
चक्तृत्वभावतः (८-२)	वक्तृत्वभावतः	वक्तृत्यभावतः
ह्यस्यान्यैश्चावकल्प्यते (१०-१६)	त प्रतिवत्	ह्यस्यान्यैव कल्प्यते
यद्वेदाध्ययनं (१०-२७)	यद्वेद्यनयं	यद्वेद्यनयं
दधुनेव भवेदिति (१०-२७)	दधुने भववेदिति	स प्रतिवत्।

त	स	क
बौद्धीयत्वात् (१०-३४)	बौद्धेयत्वात्	जाद्धियत्वात्
सद्भावाद्द्वेदो (११-२)	सद्भावो द्वेदो	सद्भावो द्वेधो
गुणः कस्मान्नीरूपत्व-तयेत्यसत् (११-११)	त प्रतिवत्	गुणस्तस्मान्नि-रूपत्वत इत्यसत्
ततो दोषा (११-१३)	तद्दोषा	तद्दोषा
यौगे(१४-३०)	यागे	यागे
पर्युदासनञर्थतः (१३-२०)	पर्युदासन इत्यतः	पर्युदासन इथतः

त्रुटित पाठोंकी पूर्ति—

१. [नमः श्रीवर्द्धमा] नाय (१-१)

२. सौ [ख्यं वा दुःखमेव वा] (१-३)

३. पृ [थिव्यादिभ्य इ] त्येव (१-१२)

४, नीय [मानत्वमे] नयोः। (१-१५)

५. धर्मो [न स्यात्फलात्य] यात्। (२-१)

६. इति चेत् दृष्टमिष्टं [हि चान्योन्याश्रय] दूषणम्। (२-३०)

७. सन्ता [नो हि भवेत्तत्र ततः] कर्तुः फलात्ययः। (४-१)

८. न हि [स्यादेकताऽभावे बौद्धानां] स्मरणादिकम्। (४-५५)

९. पक्षधर्मत्वहीनोऽपि [गमकः कृत्तिको] दयः॥ (४-८३)

संस्करणकी उल्लेखनीय बातें

इस संस्करणकी जो उल्लेखनीय बातें हैं वे निम्न हैं:—

१. ग्रन्थको अधिक शुद्ध रूपमें प्रस्तुत करने तथा त्रुटित पाठोंकी पूर्ति करनेका यथेष्ट प्रयत्न किया गया है।

२. हिन्दी-सारांश भी साथमें दे दिया है जिससे हिन्दी-भाषाभाषी भी ग्रन्थके विषयों एवं तद्गत हार्दको समझ सकेंगे। विषयसूची भी साथमें निबद्ध है। उससे भी उन्हें लाभ पहुंचेगा।

३. अन्तमें दो परिशिष्ट भी लगाये गये हैं जिनमें एक स्याद्वादसिद्धिकी कारिकाओंके अनुक्रमका है और दूसरा ग्रन्थगत व्यक्ति-सिद्धान्त-सम्प्रदायादि बोधक विशेष नामोंकी सूचीका है।

४. बत्तीस पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना है जिसमें ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें विस्तारसे प्रकाश डाला गया है।

५. दर्शनशास्त्रोंके विशिष्ट अध्येता, सम्पादक, लेखक एवं समाजके ख्यातिप्राप्त विद्वान् माननीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका चिन्तनपूर्ण प्राक्कथन भी निबद्ध है जिसमें उन्होंने जैनदर्शनके प्रमुख सिद्धान्त एवं प्रस्तुत ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषय 'स्याद्वाद' पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

कृतज्ञता-प्रकाशन

इस ग्रन्थके कार्यमें हमें अनेक सहृदय महानुभावोंने भिन्न-भिन्न रूपमें सहायता पहुंचाई है उसके लिये हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। माननीय मुख्तारसाहब और प्रेमीजीने इसके सम्पादनादिके लिये उत्साहित किया तथा अपना अनुभवपूर्ण परामर्श दिया। सम्माननीय पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने मेरे अनुरोधको स्वीकार करके अपना चिन्तनपूर्ण प्राक्कथन लिखनेकी कृपा की और मिलानके लिये काशी पहुंचने पर इस कार्यकी सराहना करते हुए प्रोत्साहन दिया। श्रीमान् पं० के० भुजबलि जी शास्त्री मूडबिद्रीने हस्त-लिखित तथा ताडपत्रीय प्रतियाँ भेजकर मुझे अनुगृहीत किया। प्रिय मित्र पं० अमृतलालजी जैनदर्शनाचार्य और पं० देवरभट्टजी न्यायतीर्थने मिलान कार्यमें

सहयोग दिया। इन सब सत्पुरुषोंके सौजन्यका ही प्रस्तुत फल है और उसका श्रेय इन्हींको प्राप्त है, अन्यथा मैं अकेला क्या कर सकता था।

अन्तमें मैं उन ग्रन्थकारों, सम्पादकों और लेखकोंका भी आभारी हूँ जिनके ग्रन्थों आदिसे कुछ भी सहायता मिली है।

दरियागंज, देहली
६ अक्तूबर १६५०,

सम्पादक
दरबारीलाल कोठिया,
(मुख्याध्यापक श्रीसमन्तभद्रविद्यालय)

(विषय-सूचीका शेषांश)

प्रस्तावना

स्याद्वादसिद्धि और वादीभसिंहसूरि

१. स्याद्वादसिद्धि

(क) ग्रन्थ-परिचय

इस ग्रन्थरत्नका नाम 'स्याद्वादसिद्धि' है। यह दार्शनिकशिरोमणि वादीभसिंहसूरिद्वारा रची गई महत्त्वपूर्ण एवं उच्चकोटिकी दार्शनिक कृति है। इसमें जैनदर्शनके मौलिक और महान् सिद्धान्त 'स्याद्वाद' का प्रतिपादन करते हुए उसका विभिन्न प्रमाणों तथा युक्तियोंसे साधन किया गया है। अतएव इसका 'स्याद्वाद-सिद्धि' यह नाम भी सार्थक है। यह प्रख्यात जैन तार्किक अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय आदि जैसा ही कारिकात्मक प्रकरण-ग्रन्थ है। किन्तु दुख है कि यह विद्यानन्दकी 'सत्यशासनपरीक्षा' और हेमचन्द्रकी 'प्रमाणमीमांसा' की तरह खण्डित तथा अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। मालूम नहीं, यह अपने पूरे रूपमें और किसी शास्त्रभण्डारमें पाया जाता है या नहीं। अथवा, ग्रन्थकारके अन्तिम जीवनकी यह रचना है जिसे वे स्वर्गवास हो जानेके कारण पूरा नहीं कर सके? मूडबिद्रीके जैनमठसे जो इसकी एक अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण और प्राचीन ताडपत्रीय प्रति प्राप्त हुई है तथा जो बहुत ही खण्डित दशामें विद्यमान है—जिसके अनेक पत्र मध्यमें और किनारोंपर टूटे हुए हैं और सात पत्र

तो बीचमें बिल्कुल ही गायब हैं उससे जान पड़ता है कि ग्रन्थकार ने इसे सम्भवतः पूरे रूपमें ही रचा है। और इसलिये यदि यह अभी नष्ट नहीं हुआ है तो असम्भव नहीं कि इसका अनुसन्धान होनेपर यह किसी दूसरे जैनेतर शास्त्रभण्डारमें मिल जाय।

यह प्रसन्नताकी बात है कि जितनी रचना उपलब्ध है उसमें १३ प्रकरण तो पूरे और १४ वाँ तथा अगले २ प्रकरण अपूर्ण और इस तरह पूर्ण-अपूर्ण १६ प्रकरण मिलते हैं। और इन सब प्रकरणोंमें (२४+४४+७४+८६½+३२+२२+२२+२१ +२३+३६+२८+१६+२१+७०+१३८+६½=)६७० जितनी कारिकाएं सन्निबद्ध हैं। इससे ज्ञात हो सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कितना महान् और विशाल है। दुर्भाग्यसे अब तक यह विद्वत्संसारके समक्ष शायद नहीं आया और इसलिये अभी तक अपरिचित तथा अप्रकाशित दशामें पड़ा चला आया।

(ख) भाषा और रचनाशैली

दार्शनिक होनेपर भी इसकी भाषा विशद और बहुत कुछ सरल है। आप ग्रन्थको सहजभावसे पढ़ते जाइये, विषय समझ में आता जायेगा। हाँ, कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ पाठकको अपना पूरा उपयोग लगाना पड़ता है और जिससे ग्रन्थकी प्रौढ़ता, विशिष्टता एवं अपूर्वताका भी कुछ अनुभव हो जाता है। यह ग्रन्थकारकी मौलिक स्वतन्त्र पद्यात्मक रचना है--किसी दूसरे गद्य या पद्यरूप मूलकी व्याख्या नहीं है। इस प्रकारकी रचनाको रचनेकी प्रेरणा उन्हें अकलंकदेवके न्यायविनिश्चयादि और शान्तरक्षितादिके तत्त्वसंग्रहादिसे मिली जान पड़ती है।

धर्मकीर्ति (६२५ई०) ने सन्तानान्तरसिद्धि, कल्याणरक्षित (७०० ई०) ने बाह्यार्थसिद्धि, धर्मोत्तर (ई० ७२५) ने परलोक-

सिद्धि और क्षणभङ्गसिद्धि तथा शङ्करानन्द (ई० ८००) ने अपोहसिद्धि और प्रतिबन्धसिद्धि जैसे नामोंवाले ग्रन्थ बनाये हैं और इनसे भी पहले स्वामी समन्तभद्र (विक्रमकी २ री, ३ री शती) और पूज्यपाद-देवनन्दि (विक्रमकी ६ ठी शती) ने क्रमशः जीवसिद्धि तथा सर्वार्थसिद्धि जैसे सिद्ध्यन्त नामके ग्रन्थ रचे हैं। सम्भवतः वादीभसिंहने अपनी यह 'स्याद्वादसिद्धि' भी उसी तरह सिद्ध्यन्त नामसे रची है।

(ग) विषय-परिचय

ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारने प्रथमतः पहली कारिकाद्वारा मङ्गलाचरण और दूसरी कारिकाद्वारा ग्रन्थ बनानेका उद्देश्य प्रदर्शित किया है। इसके बाद उन्होंने विवक्षित विषयका प्रतिपादन प्रारम्भ किया है। वह ववक्षित विषय है स्याद्वादकी सिद्धि और उसीमें तत्त्वव्यवस्थाका सिद्ध होना। इन्हीं दो बातोंका इसमें कथन किया गया है और प्रसङ्गतः दर्शनान्तरीय मन्तव्योंकी समीक्षा भी की गई है।

इसके लिये ग्रन्थकारने प्रस्तुत ग्रन्थमें अनेक प्रकरण रखे हैं। उपलब्ध प्रकरणोंमें विषय-वर्णन इस प्रकार है:—

१. **जीवसिद्धि**—इसमें चार्वाकको लक्ष्य करके सहेतुक जीव (आत्मा)की सिद्धि की गई है और उसे भूतसंघातका कार्य मानने का निरसन किया गया है। इस प्रकरणमें २४ कारिकाएं हैं।

२. **फलभोक्तृत्वाभावसिद्धि**—इसमें बौद्धोंके क्षणिकवादमें दूषण दिये गये हैं। कहा गया है कि क्षणिक चित्तसन्तानरूप आत्मा धर्मादिजन्य स्वर्गादि फलका भोक्ता नहीं बन सकता, क्योंकि धर्मादि करनेवाला चित्त क्षणध्वंसी है—वह उसी समय

नष्ट हो जाता है और यह नियम है कि 'कर्त्ता ही फलभोक्ता होता है' अतः आत्माको कथंचित् नाशशील—सर्वथा नाशशील नहीं—स्वीकार करना चाहिये। और उस हालतमें कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व दोनों एक (आत्मा)के बन सकते हैं। यह प्रकरण ४४ कारिकाओंमें पूरा हुआ है।

३. युगपदनेकान्तसिद्धि— इसमें वस्तुको युगपत्—एक साथ वास्तविक अनेकधर्मात्मक सिद्ध किया गया है और बौद्धाभिमत अपोह, सन्तान, सादृश्य तथा संवृति आदिकी युक्तिपूर्ण समीक्षा करते हुये चित्तक्षणोंको निरन्वय एवं निरंश स्वीकार करने में एक दूषण यह दिया गया है कि जब चित्तक्षणोंमें अन्वय (व्यापि-द्रव्य) नहीं है—वे परस्पर सर्वथा भिन्न हैं तो 'दाताको ही स्वर्ग और वधकको ही नरक हो' यह नियम नहीं बन सकता। प्रत्युत इसके विपरीत भी सम्भव है—दाताको नरक और वधकको स्वर्ग क्यों न हो? इस प्रकरणमें ७४ कारिकाएं हैं।

४. क्रमानेकान्तसिद्धि— इसमें वस्तुको क्रमसे वास्तविक अनेक धर्मोंवाली सिद्ध किया है। यह प्रकरण भी तीसरे प्रकरण की तरह क्षणिकवादी बौद्धोंको लक्ष्य करके लिखा गया है। इसमें कहा गया है कि यदि पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें एक अन्वयी द्रव्य न हो तो न तो उपादानोपादेयभाव बन सकता है, न प्रत्यभिज्ञा बनती है, न स्मरण बनता है और न व्याप्तिग्रहण ही बनता है, क्योंकि क्षणिकैकान्तमें उन (पूर्व और उत्तर पर्यायों) में एकता सिद्ध नहीं होती, और ये सब उसी समय उपपन्न होते हैं जब उनमें एकता (अनुस्यूतरूपसे रहनेवाला एकपना) हो। अतः जिस प्रकार मिट्टी क्रमवर्ती स्थास-कोश-कुशूल-कपाल-घटादि अनेक पर्याय-धर्मोंसे युक्त है उसी प्रकार समस्त वस्तुएं भी क्रमसे

नानाधर्मात्मक हैं और वे नाना धर्म उसके उसी तरह वास्तविक हैं जिस तरह मिट्टीके स्थासादिक।

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि वादीभसिंहकी तरह विद्यानन्दने भी अनेकान्तके दो भेद बतलाये हैं[1]—एक सहानेकान्त और दूसरा क्रमानेकान्त। और इन दोनों अनेकान्तोंकी प्रसिद्धि एवं मान्यताको उन्होंने श्रीगृद्धपिच्छाचार्यके 'गुणपर्ययवद्-द्रव्यम्' [त० सू० ५-३७] इस सूत्रकथनसे समर्थित किया है अथवा सूत्रकारके कथनको उक्त दो अनेकान्तोंकी दृष्टिसे सार्थक बतलाया है। अतः युगपदनेकान्त और क्रमानेकान्तरूप दो अनेकान्तोंकी प्रस्तुत चर्चा जैन दर्शनकी एक बहुत प्राचीन चर्चा मालूम होती है जिसका स्पष्ट उल्लेख इन दोनों विद्वानों द्वारा ही हुआ जान पड़ता है। यह प्रकरण ८६३ कारिकाओंमें समाप्त है।

५. भोक्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें सर्वथा नित्यवादीको लक्ष्य करके उसके नित्यैकान्तकी समीक्षा की गई है। कहा गया है कि यदि आत्मादि वस्तु सर्वथा नित्य—कूटस्थ—सदा एक-सी रहने वाली—अपरिवर्तनशील हो तो वह न कर्ता बन सकती है और न भोक्ता। कर्ता माननेपर भोक्ता और भोक्ता माननेपर कर्ताके अभावका प्रसङ्ग आता है, क्योंकि कर्तापन और भोक्तापन ये दोनों क्रमवर्ती परिवर्तन हैं और वस्तु नित्यवादियोंद्वारा सर्वथा अपरिवर्तनशील—नित्य मानी गई है। यदि वह कर्तापनका त्यागकर भोक्ता बने तो वह नित्य नहीं रहती—अनित्य हो जाती है, क्योंकि कर्तापन आदि वस्तुसे अभिन्न हैं।

---

१ गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये॥—तत्त्वार्थश्लो० श्लो० ४१८

यदि भिन्न हों तो वे आत्माके सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उनमें समवायादि कोई सम्बन्ध नहीं बनता। अतः नित्यैकान्तमें आत्माके भोक्तापन आदिका अभाव सिद्ध है। इस प्रकरणमें ३२ कारिकाएँ हैं।

६. सर्वज्ञाभावसिद्धि—इसमें नित्यवादी नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसकोंको लक्ष्य करके उनके स्वीकृत नित्यैकान्त प्रमाण (आत्मा-ईश्वर अथवा वेद) में सर्वज्ञताका अभाव प्रतिपादन किया गया है। इसमें २२ कारिकाएँ हैं।

७. जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें ईश्वर जगत्कर्ता सिद्ध नहीं होता, यह बतलाया गया है। इसमें भी २२ कारिकाएं हैं।

८. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि—इसमें सप्रमाण अर्हन्तको सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है और विभिन्न बाधाओंका निरसन किया गया है। इसमें २१ कारिकाएँ हैं।

९. अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि—नववाँ प्रकरण अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि है। इसमें सर्वज्ञादिकी साधक अर्थापत्तिको प्रमाण सिद्ध करते हुए उसे अनुमान प्रतिपादन किया गया है और उसे माननेकी खास आवश्यकता बतलाई गई है। कहा गया है कि जहाँ अर्थापत्ति (अनुमान)का उत्थापक अन्यथानुपपन्नत्व-अविनाभाव होता है वही साधन साध्यका गमक होता है। अतएव उसके न होने और अन्य पक्षधर्मत्वादि तीन रूपोंके होने पर भी 'वह श्याम होना चाहिये, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह' इस अनुमानमें प्रयुक्त 'उसका पुत्र होना' रूप साधन अपने 'श्यामत्व' रूप साध्यका गमक नहीं है। अतः अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है—प्रमाण है और वह अनुमानस्वरूप है। इस

प्रकरणमें २३ कारिकाएँ हैं।

१०. वेदपौरुषेयत्वसिद्धि—दशवां प्रकरण वेदपौरुषेयत्वसिद्धि है। इसमें वेदको सयुक्तिक पौरुषेय सिद्ध किया गया है और उसकी अपौरुषेय मान्यताकी मार्मिक मीमांसा की गई है। यह प्रकरण ३६ कारिकाओंमें समाप्त है।

११. परतः प्रामाण्यसिद्धि—ग्यारहवाँ प्रकरण परतः प्रामाण्यसिद्धि है। इसमें मीमांसकोंके स्वतःप्रामाण्य मतकी कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रन्थके उद्धरणपूर्वक कड़ी आलोचना करते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम) प्रमाणोंमें गुणकृत प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। इस प्रकरणमें २८ कारिकाएँ हैं।

१२. अभावप्रमाणदूषणसिद्धि—बारहवां प्रकरण अभावप्रमाणदूषणसिद्धि है। इसमें सर्वज्ञका अभाव बतलानेके लिये भाट्टोंद्वारा प्रस्तुत अभावप्रमाणमें दूषण प्रदर्शित किये गये हैं और उसकी अतिरिक्त प्रमाणताका निराकरण किया गया है। इसमें १६ कारिकाएँ निबद्ध हैं।

१३. तर्कप्रामाण्यसिद्धि— तेरहवां प्रकरण तर्कप्रामाण्यसिद्धि है। इसमें अविनाभावरूप व्याप्तिका निश्चय करानेवाले तर्कको प्रमाण सिद्ध किया गया है और यह बतलाया गया है कि प्रत्यक्षादि दूसरे प्रमाणोंसे अविनाभावका ग्रहण नहीं हो सकता। इसमें २१ कारिकाएं हैं।

१४.………… चौदहवां प्रकरण अधूरा है और इसलिये इसका अन्तिम समाप्तिपुष्पिकावाक्य उपलब्ध न होनेसे यह ज्ञात नहीं होता कि इसका नाम क्या है? इसमें प्रधानतया वैशेषिकके गुण-गुणीभेदादि और समवायादिकी समालोचना

की गई है। अतः सम्भव है इसका नाम 'गुण-गुणीअभेदसिद्धि' हो। इसमें ७० कारिकाएं उपलब्ध हैं। इसकी अन्तिम कारिका, जो खण्डित एवं त्रुटित रूपमें है, इस प्रकार है—

'तद्विशेषणभावाख्यसम्बन्धे तु न च (चा?) स्थितः।
समवा .... ॥७०॥

ब्रह्मदूषणसिद्धि—उपलब्ध रचनामें उक्त प्रकरणके बाद यह प्रकरण पाया जाता है। मूडबिद्रीकी ताडपत्र-प्रतिमें उक्त प्रकरणको उपर्युक्त 'तद्विशेषण' आदि कारिकाके बाद इस प्रकरणकी 'तन्नो चेद्ब्रह्मनिर्णीति' आदि ५२ वीं कारिकाके पूर्वार्द्ध तक सात पत्र त्रुटित हैं। इन सात पत्रोंमें मालूम नहीं कितनी कारिकाएं और प्रकरण नष्ट हैं। एक पत्रमें लगभग ५० कारिकाएं पाई जाती हैं और इस हिसाबसे सात पत्रोंमें ५० × ७ = ३५० के करीब कारिकाएं होनी चाहिये और प्रकरण कितने होंगे, यह कहा नहीं जा सकता। अत एव यह 'ब्रह्मदूषणसिद्धि' प्रकरण कौनसे नम्बर अथवा संख्यावाला है, यह बतलाना भी अशक्य है। इसका ५१½ कारिकाओं जितना प्रारम्भिक अंश नष्ट है। ब्रह्मवादियोंको लक्ष्य करके इसमें उनके अभिमत ब्रह्ममें दूषण दिखाये गये हैं। यह १८९ (—५१½ = १३७½) कारिकाओंमें पूर्ण हुआ है और उपलब्ध प्रकरणोंमें सबसे बड़ा प्रकरण है।

अन्तिम प्रकरण—उक्त प्रकरणके बाद इसमें एक प्रकरण और पाया जाता है और जो खण्डित है तथा जिसमें सिर्फ आरम्भिक ६½ कारिकाएं उपलब्ध हैं। इसके बाद ग्रन्थ खण्डित और अपूर्ण हालतमें विद्यमान है। चौदहवें प्रकरणकी तरह इस प्रकरणका भी समाप्तिपुष्पिकावाक्य अनुपलब्ध होनेसे इसका नाम ज्ञात नहीं होता। उपलब्ध कारिकाओंसे मालूम होता है कि

इसमें स्याद्वादका प्ररूपण और बौद्धदर्शनके अपोहादिका खण्डन होना चाहिए।

अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख

ग्रन्थकारने इस रचनामें अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थवाक्योंका भी उल्लेख किया है। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिल भट्ट और प्रभाकरका नामोल्लेख करके उनके अभिमत भावना और नियोगरूप वेदवाक्यार्थका निम्न प्रकार खण्डन किया है—

नियोग-भावनारूपं भिन्नमर्थद्वयं तथा।
भट्ट-प्रभाकराभ्यां हि वेदार्थत्वेन निश्चितम् ॥६-१९॥

इसी तरह अन्य तीन जगहोंपर कुमारिल भट्टके मीमांसाश्लोकवार्त्तिकसे 'वार्तिक' नामसे अथवा उसके बिना नामसे भी तीन कारिकाएं उद्धृत करके समालोचित हुई हैं और जिन्हें ग्रन्थका अङ्ग बना लिया गया है। वे कारिकाएं ये हैं—

(क) 'यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ॥'[मी० श्लो. अ. ७.का ३५५]
इत्यस्मादनुमानात्स्याद्वेदस्यापौरुषेयता। १०-३७।

(ख) 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥'

—[मी० श्लो० सू० २ का ४७]

इति वार्तिकसद्भावात्.................................—१-११।

(ग) 'शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितिः।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥'

—[मी० श्लो०सू० २ का ६२]

इति वार्त्तिकतः शब्द.......................... ।—११—२० ।

इसी तरह प्रशस्तकर[1], दिग्नाग[2], धर्मकीर्ति[3] जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथकारोंके पद-वाक्यादिकोंके भी उल्लेख इसमें पाये जाते हैं।

---

१ 'इह शाखासु वृक्षोऽयमिति सम्बन्धपूर्विका ।
बुद्धिरिहेदंबुद्धित्वात्कुण्डे दधीति बुद्धिवत् ॥' ५-४-८ ॥

इसमें प्रशस्तकरके प्रशस्तपादभाष्यगत समवायलक्षणकी सिद्धि प्रदर्शित है। तथा आगेकी कारिकाओंमें उनके 'अयुतसिद्धि' विशेषणकी आलोचना भी की गई है।

२ 'विकल्पयोनयः शब्दा इति बौद्धवचःश्रुतेः ।
कल्पनाया विकल्पत्वान्न हि बुद्धस्य वक्तृता ॥' ७-४ ॥

इस कारिकामें जिस 'विकल्पयोनयः शब्दाः' वाक्यको बौद्धका वचन कहा गया है वह वाक्य निम्न कारिकाका वाक्यांश है—

'विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः ।
तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥'

यह करिका न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५३७) आदि ग्रंथोंमें उद्धृत है। ८ वीं-९ वीं शतीके विद्वान् हरिभद्रने भी इसे अनेकान्तजयपताका (पृ० ३३७) में उद्धृत किया है और उसे भदन्त दिन्नकी बतलाई है। भदन्त दिन्न सम्भवतः दिग्नागको ही कहा गया है। इस कारिकामें प्रतिपादित सिद्धान्त (शब्द और अर्थके सम्बन्धाभाव)को दिग्नागके अनुगामी धर्मकीर्तिने भी अपने प्रमाणवार्तिक (३-२०४) में वर्णित किया है।

३ 'विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्तये ।
इत्यादिवाक्यसद्भावात्स्याद्धि बुद्धेऽप्यवक्तृता ॥' ७-४ ।

इस कारिकाका पूर्वार्ध प्रमाणवार्तिक १-१ का पूर्वार्ध है।

२. वादीभसिंहसूरि

(क) वादीभसिंह और उनका समय

ग्रन्थके प्रारम्भमें इस कृतिको वादीभसिंहसूरिकी प्रकट किया गया है तथा प्रकरणोंके अन्तमें जो समाप्तिपुष्पिकावाक्य[1] दिये गये हैं उनमें भी इसे वादीभसिंहसूरिकी ही रचना बतलाया गया है, अतः यह निसन्देह है कि इस कृतिके रचयिता आचार्य वादीभसिंह हैं।

अब विचारणीय यह है कि ये वादीभसिंह कौनसे वादीभसिंह हैं और वे कब हुए हैं—उनका क्या समय है? आगे इन्हीं दोनों बातोंपर विचार किया जाता है।

(१) आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनस्वामीने, जिनका समय ई० ८३८ है, अपने आदिपुराणमें एक 'वादिसिंह' नामके आचार्यका स्मरण किया है और उन्हें उत्कृष्ट कोटिका कवि, वाग्मी तथा गमक बतलाया है। यथा—

कवित्वस्य परा सीमा वाग्मितस्य परं पदम्।
गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः॥

(२) पार्श्वनाथचरितकार वादिराजसूरि (ई. १०२५) ने भी पार्श्वनाथचरितमें 'वादिसिंह' का समुल्लेख किया है और उन्हें

इसी तरह

'तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः।
इति तद्वान् विरोधश्च तत्र व्यप्तिविदृजम्॥' १३-८॥

इस कारिकाका पूर्वार्ध भी धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक १-४७ का पूर्वार्द्ध है।

१ यथा—'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः॥१॥ इत्यादि।

स्याद्वादवाणीकी गर्जना करनेवाला तथा दिग्नाग और धर्मकीर्ति के अभिमानको चूर-चूर करनेवाला प्रकट किया है। यथा—

स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते।
दिङ्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभङ्गो न दुर्घटः॥

(३) श्रवणबेलगोलाकी मल्लिषेणप्रशस्ति (ई० ११२८) में एक वादीभसिंहसूरि अपरनाम गणभृत (आचार्य) अजितसेनका गुणानुवाद किया गया है और उन्हें स्याद्वादविद्याके पारगामियों द्वारा आदरपूर्वक सतत वन्दनीय और लोगोंके भारी आन्तर तम को नाश करनेकेलिये पृथिवीपर आया दूसरा सूर्य बतलाया गया है। इनके अलावा, उन्हें अपनी गर्जनाद्वारा वादि-गजोंको शीघ्र चुप करके निग्रहरूपी जीर्ण गड्ढेमें पटकनेवाला तथा राजमान्य भी कहा गया है। यथा—

वन्दे वन्दितमादरादहरहस्स्याद्वादविद्याविदां।
स्वान्त-ध्वान्त-वितान-धूनन-विधौ भास्वन्तमन्यं भुवि।
भक्त्या त्वाऽजितसेनमानतिकृतां यत्सन्नियोगान्मनः-
पद्मं सद्म भवेद्विकास-विभवस्योन्मुक्त-निद्राभरं ॥५४॥
मिथ्या-भाषण-भूषणं परिहरेतौद्धत्यमुन्मुञ्चत,
स्याद्वादं वदतानमेत विनयाद्वादीभकण्ठीरवं।
नो चेत्तद्गुरुगर्जित-श्रुति-भय-भ्रान्ता स्थ यूयं यत-
स्तूर्णं निग्रहजीर्णकूपकुहरे वादि-द्विपाः पातिनः ॥५५॥
सकलभुवनपालानम्रमूर्द्धावबद्ध-
स्फुरित-मुकुट-चूडालीढ-पादारविन्दः।
मदवदखिल-वादीभेन्द्र-कुम्भप्रभेदी,
गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंहः ॥५७॥

—शिलालेख नं० ५४ (६७)।

(४) अष्टसहस्रीके टिप्पणकार लघुसमन्तभद्रने भी अपने

टिप्पणके प्रारम्भमें एक वादीभसिंहका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

'तदेवं महाभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसामलंचिकीर्षवः स्याद्वादोद्भासिसत्यवाक्यमाणिक्यमकारिकाघटमवेकटकाराः सूरयो विद्यानन्दस्वामिनस्तदादौ प्रतिज्ञाश्लोकमेकमाह ।'

—अष्टसहस्री टि० पृ० १ ।

यहां लघुसमन्तभद्र (विक्रमकी १३ वीं शती) ने वादीभसिंह को समन्तभद्राचार्यरचित आप्तमीमांसाका उपलालन (परिपोषण) कर्ता बतलाया है। यदि लघुसमन्तभद्रका यह उल्लेख अभ्रान्त है तो कहना होगा कि वादीभसिंहने आप्तमीमांसापर कोई महत्वकी टीका लिखी है और उसके द्वारा आप्तमीमांसाका उन्होंने परिपोषण किया है। श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने[1] भी इसकी सम्भावनाकी है और उसमें आचार्य विद्यानन्दके अष्टसहस्रीगत 'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते' शब्दों केसाथ उद्धृत 'जयति जगति' आदि पद्यको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि आप्तमीमांसापर विद्यानन्दके पूर्व लघुसमन्तभद्रद्वारा उल्लिखित वादीभसिंहने ही टीका रची हो और जिससे ही लघुसमन्तभद्रने उन्हें आप्तमीमांसाका उपलालनकर्ता कहा है और विद्यानन्दने 'केचित्' शब्दोंके साथ उन्हींकी टीकाके उक्त 'जयति' आदि समाप्तिमङ्गलको अष्टसहस्रीके अन्तमें अपने तथा अकलङ्कदेवके समाप्तिमङ्गलके पहले उद्धृत किया है।

(५) क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि काव्यग्रन्थोंके कर्ता वादीभसिंह सूरि अतिविख्यात और सुप्रसिद्ध हैं।

---

१ न्याय कु० प्र० भा० प्रस्ता० पृ० १११ ।

(६) पं० के० भुजबलीजी शास्त्री[1] ई० १०९० और ई० ११४७ के नं० ३ तथा नं० ३७ के दो शिलालेखोंके[2] आधारसे एक वादीभसिंह (अपर नाम अजितसेन)का उल्लेख करते हैं।

(७) श्रुतसागरसूरिने भी सोमदेवकृत यशस्तिलक (आश्वास २-१२६) की अपनी टीकामें एक वादीभसिंहका निम्न प्रकार उल्लेख किया है और उन्हें सोमदेवका शिष्य कहा है:—

'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः

श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः। इत्युक्तत्वाच्च।'

वादिसिंह और वादीभसिंहके ये सात उल्लेख हैं जो अब तककी खोजके परिणामस्वरूप विद्वानोंको जैन साहित्यमें मिले हैं। अब देखना यह है कि ये सातों उल्लेख भिन्न भिन्न हैं अथवा एक? अन्तिम उल्लेखको प्रेमीजी,[3] पं० कैलाशचन्द्रजी[4] आदि विद्वान अभ्रान्त और विश्वसनीय नहीं मानते, जो ठीक भी है, क्योंकि इसमें उनका हेतु है कि न तो वादीभसिंहने ही अपनेको सोमदेवका कहीं शिष्य प्रकट किया और न वादिराजने ही अपनेको उनका शिष्य बतलाया है। प्रत्युत वादीभसिंहने तो पुष्पसेन मुनिको और वादिराजने मतिसागरको अपना गुरु बतलाया है। दूसरे, सोमदेवने उक्त वचन किस ग्रंथ और किस प्रसङ्गमें कहा, यह सोमदेवके उपलब्ध ग्रन्थोंपरसे ज्ञात नहीं होता। अतः जबतक अन्य प्रमाणोंसे उसका समर्थन नहीं होता तबतक उसे प्रमाणकोटिमें नहीं रखा जा सकता

---

१ देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ६, कि० २ पृ० ७८।

२ देखो, ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा सङ्कलित तथा अनुवादित 'मद्रास व मैसूर प्रान्तके प्राचीन स्मारक' नामक पुस्तक।

३ देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४८०।

४ देखो, न्यायकुमुद प्र० भा० प्रस्ता० पृ० ११२।

शेष उल्लेखोंमें मेरा विचार है कि तीसरा और छठा ये दो उल्लेख अभिन्न हैं तथा उन्हें एक दूसरे वादीभसिंहके होना चाहिए, जिनका दूसरा नाम मल्लिषेणप्रशस्ति और निर्दिष्ट शिलालेखोंमें अजितसेन मुनि अथवा अजितसेन पण्डितदेव भी पाया जाता है तथा जिनके उक्त प्रशस्तिमें शान्तिनाथ और पद्मनाभ अपरनाम श्रीकान्त और वादिकोलाहल नामके दो शिष्य भी बतलाये गये हैं। इन मल्लिषेणप्रशस्ति और शिलालेखोंका लेखनकाल ई० ११२८, ई० १०६० और ई० ११४७ है और इसलिये इन वादीभसिंहका समय लगभग ई० १०६५ से ई० ११५० तक हो सकता है। बाकीके चार उल्लेख—पहला, दूसरा, चौथा और पांचवाँ प्रथम वादीभसिंहके होना चाहिये, जिन्हें 'वादिसिंह' नामसे भी साहित्यमें उल्लेखित किया गयाहै। वादीभसिंह और वादिसिंहके अर्थमें कोई भेद नहीं है—दोनोंका एक ही अर्थ है। वादिरूपी गजोंके लिये सिंह और वादियोंके लिये सिंह एक ही बात है।

अब यदि यह सम्भावना की जाय कि क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि काव्यग्रंथोंके कर्ता वादीभसिंहसूरि ही स्याद्वादसिद्धिकार हैं और इन्होंने आप्तमीमांसापर विद्यानन्दसे पूर्व कोई टीका अथवा वृत्ति लिखी है जो लघुसमन्तभद्रके उल्लेख तथा विद्यानन्दके 'केचित्' शब्दके साथ उद्धृत 'जयति जगति' आदि पद्य परसे जानी जाती है तथा इन्हीं वादीभसिंहका 'वादिसिंह' नामसे जिनसेन और वादिराजसूरिने बड़े सम्मानपूर्वक स्मरण किया है। तथा 'स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते' वाक्यमें वादिराजने 'स्याद्वादगिर' पदके द्वारा इन्हींकी प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धि जैसी स्याद्वादविद्यासे परिपूर्ण कृतियोंकी ओर इशारा किया है तो कोई अनुचित मालूम नहीं होता। इसके औचित्यको सिद्ध करनेवाले नीचे कुछ प्रमाण भी उप-

स्थित किये जाते हैं।

(१) क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिके मङ्गलाचरणोंमें कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् भक्तोंके समीहित (जिनेश्वर-पदप्राप्ति) को पुष्ट करें—देवें। यथा—

(क) श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद्भक्तानां वः समीहितम्।
यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे ॥१॥

—क्षत्रचू० १-१।

(ख) श्रियः पतिः पुष्यतु वः समीहितं,
त्रिलोकरक्षानिरतो जिनेश्वरः।
यदीयपादाम्बुजभक्तिशीकरः,
सुरासुराधीशपदाय जायते ॥ —गद्यचि० पृ० १।

लगभग यही प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिके मङ्गलाचरणमें कहा गया है—

(ग) नमः श्रीवर्द्धमानाय स्वामिने विश्ववेदिने।
नित्यानन्द-स्वभावाय भक्त-सारूप्य-दायिने ॥१-१॥

(२) जिस प्रकार क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिके प्रत्येक लम्बके अन्तमें समाप्ति-पुष्पिकावाक्य दिए हैं वैसे ही स्याद्वाद-सिद्धिके प्रकरणान्तमें वे पाये जाते हैं। यथा—

(क) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ सरस्वतीलम्भो नाम प्रथमो लम्बः' — क्षत्रचूडा०।

(ख) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते गद्यचिन्तमणौ सरस्वतीलम्भो नाम प्रथमो लम्बः।' —गद्यचिन्तामणि।

(ग) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः।'—स्याद्वादसिद्धि।

(३) जिस तरह क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिमें यत्र क्वचित् नीति, तर्क और सिद्धान्तकी पुट उपलब्ध होती है उसी

तरह वह प्राय: स्याद्वादसिद्धिमें भी उपलब्ध होती है। यथा—

(क) 'अतर्कितमिदं वृत्तं तर्करूढं हि निश्चलम् ॥१-४२॥
इत्यूहेन विरक्तोऽभूद्गत्यधीनं हि मानसम् ॥१-६५॥
—क्षत्रचूडामणि।

(ख) 'ततो हि सुधियः संसारमुपेक्षन्ते।'
—गद्यचिन्तामणि पृ० ७८।

'एवं परगतिविरोधिन्या............चार्वाकमतसब्रह्मचारिण्या राज्यश्रिया परिगृहीताः क्षितिपतिसुताः...... नैयायिकनिर्दिष्टनिर्वाणपदप्रतिष्ठिता इव.... कापिलकल्पितपुरुषा इव ... प्रकृतिर्विकारपरं वंचनं प्रतिपादयन्ति।' —गद्यचि० पृ० ६६।

'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः। स च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः। अधर्मस्तु तद्विपरीतः।' —गद्य० पृ०२४३।

(ग) 'तदुपायं ततो वक्ष्ये न हि कार्यमहेतुकम् ॥१-२॥
न ह्यवास्तवतः कार्यं कल्पिताग्नेश्च दाहवत् ॥२-४८॥
न हि स्वान्यप्रतिकृत्वं स्याद्विरागे विश्ववेदिनि ॥७-२२॥
सत्येवात्मनि धर्मे च सौख्योपाये सुखार्थिभिः।
धर्म एव सदा कार्यो न हि कार्यमकारणे ॥१-२४॥ —स्या द्वा०।

इन तुलनात्मक उद्धरणोंपरसे सम्भावना होती है कि क्षत्रचूडामणि तथा गद्यचिन्तामणिके कर्ता वादीभसिंहसूरि और स्याद्वादसिद्धिके कर्ता वादीभसिंहसूरि अभिन्न हैं—एक ही विद्वानकी ये तीनों कृतियां हैं। इन कृतियोंसे उनकी उत्कृष्ट कवि, उत्कृष्ट वादी और उत्कृष्ट दार्शनिककी ख्याति और प्रसिद्धि भी यथार्थ जंचती है। द्वितीय वादीभसिंहकी भी जो इसी प्रकारकी ख्याति और प्रसिद्धि शिलालेखोंमें उल्लिखित पाई जाती है और जिससे विद्वानोंको यह भ्रम हुआ है कि वे दोनों एक हैं वह हमें प्रथम वादीभसिंहकी

छाप (अनुकृति) जान पड़ती है। इस प्रकारके प्रयत्नके जैनसाहित्यमें अनेक उदाहरण मिलते हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि महान् दार्शनिक ग्रंथोंके कर्ता आचार्य विद्यानन्दकी जैनसाहित्य में जो भारी ख्याति और प्रसिद्धि है वैसी ही ख्याति और प्रसिद्धि ईसाकी १६ वीं शताब्दीमें हुए एक दूसरे विद्यानन्दिकी हुम्बुचके शिलालेखों और वर्द्धमानमुनीन्द्रके दशभक्त्यादिमहाशास्त्रमें वर्णित मिलती है और जिससे विद्वानोंको इन दोनोंके ऐक्य में भ्रम हुआ है, जिसका निराकरण विद्यानन्दकी स्वोपज्ञ टीका सहित 'आप्त-परीक्षा'की प्रस्तावनामें किया गया है[1]। हो सकता है कि प्रथम नामवाले विद्वानकी तरह उसी नामवाले दूसरे विद्वान् भी प्रभावशाली रहे हों। अतः ८वीं-६वीं शताब्दीसे १२वीं शताब्दी तक विभिन्न वादीभसिंहोंका अस्तित्व मानना चाहिए। यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त ग्रन्थोंके कर्ता वादीभसिंहके कवि और स्याद्वादी होनेके उनके ग्रन्थोंमें प्रचुर बीज भी मिलते हैं।

अब इनके समयपर विचार किया जाता है।

१. स्वामीसमन्तभद्ररचित रत्नकरण्डक और आप्तमीमांसाका क्रमशः क्षत्रचूडामणि और स्याद्वादसिद्धिपर स्पष्ट प्रभाव है। यथा—

श्वाऽपि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्म-किल्बिषात्।

— रत्नकरण्ड० श्लोक २६।

देवता भविता श्वापि देवः श्वा धर्म-पापतः।

—क्षत्रचूडामणि ११-७७।

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्॥ आप्त. ८।

कुशलाकुशलत्वं च न चेत्ते दातृहिंस्रयोः॥

—स्या० ३-५०।

---

१ देखो, प्रस्तावना पृ० ८।

अतः वादीभसिंहसूरि स्वामी समन्तभद्रके पश्चाद्वर्ती अर्थात् विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके बादके विद्वान् हैं।

२. अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयादि ग्रन्थोंका भी स्याद्वाद-सिद्धिपर असर है जिसके तीन तुलनात्मक नमूने इस प्रकार हैं—

(१) असिद्धधर्मिधर्मत्वेऽप्यन्यथानुपपत्तिमान्।
हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात्॥
—न्यायविनि० का० १७६।

पक्षधर्मत्व-वैकल्येऽप्यन्यथानुपपत्तिमान्॥
हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात्।
—स्या०-४—८७, ८८।

(२) समवायस्य वृक्षोऽत्र शाखास्वित्यादिसाधनैः॥
अनन्यसाधनैः सिद्धिरहो लोकोत्तरा स्थितिः॥
--न्यायवि. का. १०३, १०४

इह शाखासु वृक्षोऽयमिति सम्बन्धपूर्विका।
बुद्धिरिहेदंबुद्धित्वात्कुण्डे दधीति बुद्धिवत्॥ —स्या० ५-८।

(३) अप्रमत्ता विवक्षेयं अन्यथा नियमात्ययात्।
इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम्॥
—न्यायवि० का० ३५६।

सार्वज्ञसहजेच्छा तु विरागेऽप्यस्ति, सा हि न।
रागाद्युपहता तस्मात्तद्वक्तैव सर्ववित्॥ —स्या० ८-१०।

अतः वादीभसिंह अकलङ्कदेवके अर्थात् विक्रमकी सातवीं शताब्दीके उत्तरवर्ती विद्वान् हैं।

३. प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिके छठे प्रकरणकी १९ वीं कारिकामें भट्ट और प्रभाकरका नामोल्लेख करके उनके अभिमत भावना-नियोगरूप वेदवाक्यार्थका निर्देश किया गया है। इसके अलावा, कुमारिलभट्टके मीमांसाश्लोकवार्तिकसे कई कारिकाएं भी उद्धृत

करके उनकी आलोचना की गई है। कुमारिलभट्ट और प्रभाकर समकालीन विद्वान हैं तथा ईसाकी सातवीं शताब्दी उनका समय माना जाता है, अतः वादीभसिंह इनके उत्तरवर्ती हैं।

४. बौद्ध विद्वान् शङ्करानन्दकी अपोहसिद्धि और प्रतिबन्धसिद्धिकी आलोचना स्याद्वादसिद्धिके तीसरे-चौथे प्रकरणोंमें की गई मालूम होती है। शङ्करानन्दका समय राहुल सांस्कृत्यायनने ई० ८१० निर्धारित किया है[1]। शङ्करानन्दके उत्तरकालीन अन्य विद्वान्‌की आलोचना अथवा विचार स्याद्वादसिद्धिमें पाया जाता हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। अतः वादीभसिंहके समयकी पूर्वावधि शङ्करानन्दका समय जानना चाहिये। अर्थात् ईसाकी ८ वीं शती इनकी पूर्वावधि माननेमें कोई बाधा नहीं है।

अब उत्तरावधिके साधक प्रमाण दिये जाते हैं—

१. तामिल-साहित्यके विद्वान् पं० स्वामिनाथय्या और श्री कुप्पूस्वामी शास्त्रीने अनेक प्रमाणपूर्वक यह सिद्ध किया है कि तामिल भाषामें रचित तिरुत्तक्कदेव कृत 'जीवकचिन्तामणि' ग्रन्थ क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिकी छाया लेकर रचा गया है और जीवकचिन्तामणिका उल्लेख सर्व प्रथम तामिलभाषाके पेरियपुराणमें मिलता है जिसे चोल-नरेश कुलोत्तुङ्गके अनुरोधसे शेक्किलार नामक विद्वान्‌ने रचा माना जाता है। कुलोत्तुङ्गका राज्यकाल वि० सं० ११३७ से ११७५ (ई० १०८० से ई० १११८) तक है[2]। अतः वादीभसिंह इससे पूर्ववर्ती हैं— बादके नहीं।

२. श्रावकके आठ मूलगुणोंके बारेमें जिनसेनाचार्यके पूर्व एक ही परम्परा थी और वह थी स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकश्रावकाचार प्रतिपादित। जिसमें तीन मकार (मद्य, मांस

१ देखो, 'वादन्याय का परिशिष्ट A।

२ देखो, जैनसाहित्य और इतिहास।

और मधु) तथा हिंसादि पांच पापोंका त्याग विहित है। जिनसेनाचार्यने उक्त परम्परामें कुछ परिवर्तन किया और मधुके स्थानमें जुआको रखकर मद्य, मांस, जुआ तथा पांच पापोंके परित्यागको अष्ट मूलगुण बतलाया। उसके बाद सोमदेवने तीन मकार और पांच उदुम्बर फलोंके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा, जिसका अनुसरण पं० आशाधरजी आदि विद्वानोंने किया है। परन्तु वादीभसिंहने क्षत्रचूडामणिमें[1] स्वामी समन्तभद्र प्रतिपादित पहली परम्पराको ही स्थान दिया है और जिनसेन आदिकी परम्पराओंको स्थान नहीं दिया। यदि वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवके उत्तरकालीन होते तो वे बहुत सम्भव था कि उनकी परम्पराको देते अथवा साथमें उन्हें भी देते। जैसा कि पं० आशाधरजी आदि उत्तरवर्ती विद्वानोंने किया है। इसके अलावा, जिनसेन (ई० ८३८) ने आदिपुराणमें इनका स्मरण किया है, जैसाकि पूर्वमें कहा जा चुका है। अतः वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवसे, जिनका समय क्रमशः ईसाकी नवमी और दशमी शताब्दी है, पश्चाद्वर्ती नहीं हैं—पूर्ववर्ती हैं।

३. न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टने कुमारिलकी मीमांसाश्लोकवार्तिक गत 'वेदस्याध्ययनं सर्वं' इस, वेदकी अपौरुषेयताको सिद्ध करनेके लिये उपस्थित की गई, अनुमानकारिकाका न्यायमञ्जरीमें सम्भवतः सर्व प्रथम 'भारताध्ययनं सर्वं' इस रूपसे खण्डन किया है, जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती प्रभाचन्द्र[2], अभयदेव[3]

---

१ अहिंसा सत्यमस्तेयं स्वस्त्री-मितवसु-ग्रहौ।
मद्यमांसमधुत्यागैस्तेषां मूलगुणाष्टकम् ॥ क्षत्र० ७-२३।

२ देखो, न्यायकुमुद पृ.७३१, प्रमेयक.पृ.३१६।

३ देखो, सन्मति टी. पृ. ४१।

देवसूरि[1], प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य[2] प्रभृति तार्किकोंने किया है। न्यायमञ्जरीकारका वह खण्डन इस प्रकार है—

'भारतेऽप्येवमभिधातुं शक्यत्वात्।

भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं।

भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानीन्तनभारताध्ययनवदिति॥'

—न्यायमं० पृ० २१४।

परन्तु वादीभसिंहने स्याद्वादसिद्धिमें कुमारिलकी उक्त कारिकाके खण्डनके लिये अन्य विद्वानोंकी तरह न्यायमञ्जरीकारका अनुगमन नहीं किया। अपितु स्वरचित एक भिन्न कारिका-द्वारा उसका निरसन किया है जो निम्न प्रकार है:—

पिटकाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्।

तदध्ययनवाच्यत्वादधुनेव भवेदिति॥ —स्या. १०-३०।

इसके अतिरिक्त वादीभसिंहने कोई पांच जगह और भी इसी स्याद्वादसिद्धिमें पिटकका ही उल्लेख किया है, जो प्राचीन परम्पराका द्योतक है। अष्टशती और अष्टसहस्री (पृ. २३७)में अकलङ्कदेव तथा उनके अनुगामी विद्यानन्दने भी इसी (पिटकत्रय) का ही उल्लेख किया है।

इससे हम इस नतीजेपर पहुंचते हैं कि यदि वादीभसिंह न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टके उत्तरवर्ती होते तो संभव था कि वे उनका अन्य उत्तरकालीन विद्वानोंकी तरह जरूर अनुसरण करते—'भारताध्ययनं सर्वं' इत्यादिको ही अपनाते और उस हालतमें 'पिटकाध्ययनं सर्वं' इस नई कारिकाको जन्म न देते। इससे ज्ञात होता है कि वादीभसिंह न्यायमञ्जरीकारके उत्तरवर्ती विद्वान नहीं हैं। न्यायमञ्जरीकारका समय ई० ८४० के

---

१ देखो, स्या. र. पृ. ६३४। २ देखो, प्रमेयरत्न. पृ. १३७।

लगभग माना जाता है[1]। अतः वादीभसिंह इनसे पहलेके हैं।

४. आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षामें जगत्कर्तृत्वका खण्डन करते हुए ईश्वरको शरीरी अथवा अशरीरी माननेमें दूषण दिये हैं और उसकी विस्तृत मीमांसा की है। उसका कुछ अंश टीका सहित नीचे दिया जाता है—

'महेश्वरस्याशरीरस्य स्वदेहनिर्माणानुपपत्तेः। तथा हि—

देहान्तराद्विना तावत्स्वदेहं जनयेद्यदि।
तदा प्रकृतकार्येऽपि देहाधानमनर्थकम् ॥१८॥
देहान्तरात्स्वदेहस्य विधाने चानवस्थितिः।
तथा च प्रकृतं कार्यं कुर्यादीशो न जातुचित् ॥१९॥

यथैव हि प्रकृतकार्यजननायापूर्वशरीरमीश्वरो निष्पादयति तथैव तच्छरीरनिष्पादनायापूर्वशरीरान्तरं निष्पादयेदिति कथमनवस्था विनिवार्येत ?

यथाऽनीशः स्वदेहस्य कर्ता देहान्तरान्मतः।
पूर्वस्मादित्यनादित्वान्नानवस्था प्रसज्यते ॥२०॥
तथेशस्यापि पूर्वस्माद्देहाद्देहान्तरोद्भवात्।
नानवस्थेति यो ब्रूयात्तस्यानीशत्वमीशितुः ॥२१॥
अनीशः कर्मदेहेनाऽनादिसन्तानवर्तिना।
यथैव हि सकर्मा सँस्तद्वन्न कथमीश्वरः ॥२२॥

प्रायः यही कथन वादीभसिंहने स्याद्वादसिद्धिकी सिर्फ ढाई कारिकाओंमें किया है और जिसका पल्लवन एवं विस्तार उपर्युक्त जान पड़ता है। वे ढाई कारिकाएँ ये हैं—

देहारम्भोऽप्यदेहस्य वक्तृत्ववदयुक्तिमान्।
देहान्तरेण देहस्य यद्यारम्भोऽनवस्थितिः ॥
अनादिस्तत्र बन्धश्चेत्यक्तोपात्तशरीरता।

---

१ देखो, न्यायकु० द्वि० भा०, प्र० पृ० १६।

अस्मादादिवदेवाऽस्य जातु नैवाशरीरता ॥
देहस्यानादिता स्यादेतस्यां च प्रमात्ययात् । —६·१०, ११½ ।

इन दोनों उद्धरणोंका मिलान करनेसे ज्ञात होता है कि वादीभसिंहका कथन जहाँ संक्षिप्त है वहाँ विद्यानन्दका कथन कुछ विस्तारयुक्त है। इसके अलावा, वादीभसिंहने प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिमें अनेकान्तके युगपदनेकान्त और क्रमानेकान्त ये दो भेद प्रदर्शित करके उनका एक एक स्वतन्त्र प्रकरण द्वारा विस्तारसे वर्णन किया है। विद्यानन्दने भी श्लोकवार्तिक (पृ० ४३८)में अनेकान्तके इन दो भेदोंका उल्लेख किया है। इन बातोंसे लगता है कि शायद विद्यानन्दने वादीभसिंहका अनुसरण किया है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो विद्यानन्दका समय वादीभसिंहकी उत्तरावधि समझना चाहिये। यदि ये दोनों विद्वान समकालीन हों तो भी एक दूसरेका प्रभाव एक दूसरेपर पड़ सकता है और एक दूसरेके कथन एवं उल्लेखका आदर एक दूसरा कर सकता है। विद्यानन्दका समय हमने अन्यत्र[1] ई० ७७५से ८४० अनुमानित किया है।

५. गद्यचिन्तामणि (पीठिका श्लोक ६) में वादीभसिंहने अपना गुरु पुष्पषेण आचार्यको बतलाया है और ये पुष्पषेण वे ही पुष्पषेण मालूम होते हैं जो अकलंकदेवके सधर्मा और 'शत्रुभयङ्कर' कृष्ण प्रथम (ई० ७५६-७७२) के समकालीन कहे जाते हैं[2]। और इसलिये वादीभसिंह भी कृष्ण प्रथमके समकालीन हैं।

अतः इन सब प्रमाणोंसे वादीभसिंहसूरिका अस्तित्व-समय

---

१ देखो, आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना पृ० ५३।

२ देखो, डा० सालतोर कृत मिडियावल जैनिज्म पृ० ३६।

ईसाकी ८ वीं और ९ वीं शताब्दीका मध्यकाल—ई० ७७० से ८६० सिद्ध होता है।

बाधकोंका निराकरण

इस समयके स्वीकार करनेमें दो बाधक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं और वे ये हैं—

१. क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिमें जीवन्धरस्वामीका चरित निबद्ध है जो गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराण[1] (शक सं० ७७०, ई० ८४८) गत जीवन्धरचरितसे लिया गया है। इसका संकेत भी गद्यचिन्तामणिके निम्न पद्यमें मिलता है—

> निःसारभूतमपि बन्धनतन्तुजातं,
> मूर्ध्ना जनो वहति हि प्रसवानुषङ्गात्।
> जीवन्धरप्रभवपुण्यपुराणयोगा—
> द्वाक्यं ममाऽप्युभयलोकहितप्रदायि ॥६॥

अतएव वादीभसिंह गुणभद्राचार्यसे पीछेके हैं।

२. सुप्रसिद्ध धारानरेश भोजकी झूठी मृत्युके शोकपर उनके समकालीन सभाकवि कालिदास, जिन्हें परिमल अथवा दूसरे कालिदास कहा जाता है, द्वारा कहा गया निम्न श्लोक प्रसिद्ध है—

> अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
> पण्डिता खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते ॥

और इसी श्लोकके पूर्वार्धकी छाया सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसङ्गमें कही गई गद्यचिन्तामणिकी निम्न गद्यमें पाई जाती है—

---

[1] प्रेमीजीने जो इसे 'शक सं० ७०५ (वि० सं ८४०) की रचना' बतलाई है (देखो, जैनसा० और इति० पृ. ४८१) वह प्रेसादिकी गलती जान पड़ती है; क्योंकि उन्होंने उसे अन्यत्र शक सं. ७७०, ई. ८४८के लगभगकी रचना सिद्ध की है, देखो वही पृ० ५१४।

'अद्य निराधारा धरा निरालम्बा सरस्वती ।'

अतः वादीभसिंह राजा भोज (वि० सं० १०७६ से वि० ११-१२) के बादके विद्वान् हैं ।

ये दो बाधक हैं जिनमें पहलेके उद्भावक श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी हैं और दूसरेके स्थापक श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री तथा समर्थक प्रेमीजी हैं । इनका समाधान इस प्रकार है—

१. कवि परमेष्ठी अथवा परमेश्वरने जिनसेन और गुणभद्र के पहले 'वागर्थसंग्रह' नामका जगत्प्रसिद्ध पुराण रचा है[1] और जिसमें त्रेशठशलाका पुरुषोंका चरित वर्णित है तथा जिसे उत्तरवर्ती अनेकों पुराणकारोंने अपने पुराणोंका आधार बनाया है । खुद जिनसेन और गुणभद्रने भी अपने आदिपुराण तथा उत्तरपुराण उसीके अधारसे बनाये हैं, यह प्रेमीजी स्वयं स्वीकार करते हैं[2] । तब वादीभसिंहने भी जीवन्धरचरित जो उक्त पुराणमें निबद्ध होगा उसी (पुराण) से लिया है, यह कहनेमें भी कोई बाधा नहीं जान पड़ती ।

गद्यचिन्तामणिका जो पद्य प्रस्तुत किया गया है उसमें सिर्फ इतना ही कहा है कि 'इसमें जीवन्धरस्वामीके चरितके उद्भावक पुण्यपुराणका सम्बन्ध होने अथवा मोक्षगामी जीवन्धरके पुण्य-चरितका कथन होनेसे यह (मेरा गद्यचिन्तामणिरूप वाक्य-समूह) भी उभय लोकके लिये हितकारी है ।' और वह पुण्यपुराण उपर्युक्त कविपरमेष्ठीका वागर्थसंग्रह भी हो सकता है । इसके सिवाय, गद्यचिन्तामणिकारने उस जीवन्धरचरितको गद्यचिन्तामणिमें कहनेकी प्रतिज्ञा की है जिसे गणधरने कहा

---

१ देखो डा० ए० एन० उपाध्येका 'कवि परमेश्वर या परमेष्ठी' शीर्षक लेख, जैनसि० भा. भाग १३, कि. २ ।

२ देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४२१ ।

और अनेक सूरियों (आचार्यों) द्वारा जगतमें ग्रन्थरचनादिके रूपमें प्रख्यापित हुआ है। यथा—

> इत्येवं गणनायकेन कथितं पुण्यास्रवं शृण्वतां
> तज्जीवन्धरवृत्तमत्र जगति प्रख्यापितं सूरिभिः।
> विद्यास्फूर्तिविधायि धर्मजननीवाणीगुणाभ्यर्थिनां
> वक्ष्ये गद्यमयेन वाङ्मयसुधावर्षेण वाञ्छितसद्धये ॥१५॥

दूसरे, यदि क्षत्रचूडामणि और गद्यचिंतामणि वादीभसिंह सूरिकी अन्तिम रचनाएं हों तो गुणभद्र (ई० ८४८) के उत्तर-पुराणका उनमें अनुसरण माननेमें भी कोई हानि नहीं है।

अतः वादीभसिंहको गुणभद्राचार्यका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेके लिये जो उक्त हेतु दिया गया है वह वादीभसिंहके उपरोक्त समयका बाधक नहीं है।

२. दूसरी बाधाको उपस्थित करते हुए उसके उपस्थापक श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री और प्रेमीजी दोनों विद्वानोंको कुछ भ्रान्ति हुई है। वह भ्रान्ति यह है कि गद्यचिन्तामणिकी उक्त गद्यको सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसङ्गमें कही गई बतलाई है किन्तु वह उनके शोकके प्रसङ्गमें नहीं कही गई। अपितु काष्ठाङ्गारके हाथीको जीवन्धरस्वामीने कड़ा मारा था, उससे क्रुद्ध हुए काष्ठाङ्गारके निकट जब जीवन्धरस्वामीको गन्धोत्कटने बांधकर भेज दिया और काष्ठाङ्गारने उन्हें वधस्थानमें लेजाकर फांसी देनेकी सजाका हुकुम दे दिया तो सारे नगरमें सन्नाटा छा गया और समस्त नगरवासी सन्तापमें मग्न होगये तथा शोक करने लगे। इसी समयकी उक्त गद्य है और जो पांचवें लम्बमें पाई जाती है जहां सत्यन्धरका कोई सम्बन्ध नहीं है—उनका तो पहले लम्ब तक ही सम्बन्ध है। वह पूरी प्रकृतोपयोगी गद्य इस प्रकार है—

'अद्य निराश्रया श्रीः, निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती, निष्फलं लोकलोचनविधानम् , निःसारः संसारः, नीरसा रसिकता, निरास्पदा वीरता इति मिथः प्रवर्तयति प्रणयोद्गारिणीं वाणीम्.......' —पृ० १३१।

इस गद्यके पद-वाक्योंके विन्यास और अनुप्रासको देखते हुए यही प्रतीत होता है कि यह गद्य मौलिक है और वादीभसिंहकी अपनी रचना है। हो सकता है कि उक्त परिमल कविने इसी गद्य के पदोंको अपने उक्त श्लोकमें समाविष्ट किया हो। यदि उल्लिखित पद्यकी इसमें छाया होती तो 'अद्य' और 'निराधारा धरा' के बीचमें 'निराश्रया श्रीः' यह पद फिर शायद न आता। छायामें मूल ही तो आता है। यही कारण है कि इस पदको शास्त्रीजी और प्रेमीजी दोनों विद्वानोंने पूर्वोल्लिखित गद्यमें उद्धृत नहीं किया—उसे अलग करके और 'अद्य' को 'निराधारा धरा' के साथ जोड़कर उपस्थित किया है! अतः यह दूसरी बाधा भी उपरोक्त समयकी बाधक नहीं है।

(ख) पुष्पसेन और ओडयदेव

वादीभसिंहके साथ पुष्पसेन मुनि और ओडयदेवका सम्बन्ध बतलाया जाता है। पुष्पसेनको उनका गुरु और ओडयदेव उनका जन्म नाम अथवा वास्तव नाम कहा जाता है। इसमें निम्न पद्य प्रमाणरूपमें दिये जाते हैं—

पुष्पसेनमुनिनाथ इति प्रतीतो,
दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम संनिदध्यात्।
यच्छक्तितः प्रकृतमूढमतिर्जनोऽपि,
वादीभसिंहमुनिपुङ्गवतामुपैति ॥

❀ ❀ ❀

श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः।
स्थेयादोडयदेवेन चिरायास्थानभूषणः॥
स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृतः।
गद्यचिन्तामणिर्लोके चिन्तामणिरिवापरः॥

इनमें पहला पद्य गद्यचिन्तामणिकी प्रारम्भिक पीठिकाका छठा पद्य है और जो स्वयं ग्रन्थकारका रचा हुआ है। इस पद्य में कहा गया है कि 'वे प्रसिद्ध पुष्पसेन मुनीन्द्र दिव्य मनु—पूज्य गुरु मेरे हृदयमें सदा आसन जमाये रहें—वर्तमान रहें जिकेन प्रभावसे मुझ जैसा निपट मूर्ख साधारण आदमी भी वादीभसिंह मुनिश्रेष्ठ अथवा वादीभसिंहसूरि बन गया।' अतः यह असंदिग्ध है कि वादीभसिंह सूरिके गुरु पुष्पसेन मुनि थे—उन्होंने उन्हें मूर्खसे विद्वान् और साधारण जनसे मुनिश्रेष्ठ बनाया था और इसलिए वे वादीभसिंहके दीक्षा और विद्या दोनोंके गुरु थे।

अन्तिम दोनों पद्य, जिनमें ओडयदेवका उल्लेख है, मुझे वादीभसिंहके स्वयंके रचे नहीं मालूम होते, क्योंकि प्रथम तो जिस प्रशस्तिके रूपमें वे पाये जाते हैं वह प्रशस्ति गद्यचिन्तामणि की सभी प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं है—सिर्फ तञ्जोरकी दो प्रतियों मेंसे एक ही प्रतिमें वह मिलती है। इसी लिये मुद्रित गद्यचिन्तामणिके अन्तमें वे अलगसे दिए गए हैं और श्रीकुप्पूस्वामी शास्त्री ने फुटनोटमें उक्त प्रकारकी सूचना की है। दूसरे, प्रथम श्लोक का पहला पाद और दूसरे श्लोकका दूसरा पाद, तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका तीसरा पाद तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका पहला पाद परस्पर अभिन्न हैं—पुनरुक्त हैं—उनसे कोई विशेषता जाहिर नहीं होती और इसलिये ये दोनों शिथिल पद्य वादीभसिंह जैसे

उत्कृष्ट कविकी रचना ज्ञात नहीं होते। तीसरे, वादीभसिंहसूरिकी प्रशस्ति देनेकी प्रकृति और परिणति भी प्रतीत नहीं होती। उनकी क्षत्रचूडामणिमें भी वह नहीं है और स्याद्वादसिद्धि अपूर्ण है, जिससे उसके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः उपर्युक्त दोनों पद्य हमें अन्यद्वारा रचित एवं प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं और इस लिए ओडयदेव वादीभसिंहका जन्म नाम अथवा वास्तव नाम था, यह विचारणीय है। हां, वादीभसिंहका जन्म नाम व असली नाम कोई रहा जरूर होगा। पर वह क्या होगा, इसके साधनका कोई दूसरा पुष्ट प्रमाण ढूंढ़ना चाहिए।

(ग) वादिभसिंहकी प्रतिभा और उनकी कृतियां

आचार्य जिनसेन तथा वादिराज जैसे प्रतिभाशाली विद्वानों एवं समर्थ ग्रन्थकारोंने आचार्य वादीभसिंहकी प्रतिभा और विद्वत्तादि गुणोंका समुल्लेख करते हुए उनके प्रति अपना महान् आदरभाव प्रकट किया है और लिखा है कि वे सर्वोत्कृष्ट कवि, श्रेष्ठतम वाग्मी और अद्वितीय गमक थे तथा स्याद्वादविद्याके पारगामी और प्रतिवादियोंके अभिमानचूरक एवं प्रभावशाली विद्वान् थे और इसलिये वे सबके सम्मान योग्य हैं? इससे जाना जा सकता है कि आचार्य वादीभसिंह एक महान् दार्शनिक, वादी, कवि और दृष्टिसम्पन्न विद्वान् थे—उनकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता बहुमुखी थी और उन्हें विद्वानोंमें अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

इनकी तीन कृतियां अब तक उपलब्ध हुई हैं। वे ये हैं—

१. **स्याद्वादसिद्धि**—प्रस्तुत ग्रन्थ है।

२. **क्षत्रचूडामणि**—यह उच्च कोटिका एक नीति काव्यग्रन्थ है। भारतीय काव्यसाहित्यमें इस जैसा नीति काव्यग्रन्थ

और कोई दृष्टिगोचर नहीं आया। इसकी सूक्तियां और उपदेश हृदयस्पर्शी हैं। यह पद्यात्मक रचना है। इसमें क्षत्रियमुकुट जीवन्धरके, जो भगवान् महावीरके समकालीन और सत्यन्धर नरेशके राजपुत्र थे, चरितका चित्रण किया गया है। उन्होंने भगवानसे दीक्षा लेकर निर्वाण लाभ किया था और इससे पूर्व अपने शौर्य एवं पराक्रमसे शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके नीति-पूर्वक राज्यका शासन किया था।

३. गद्यचिन्तामणि—यह ग्रन्थकारकी गद्यात्मक काव्य-रचना है। इसमें भी जीवन्धरका चरित निबद्ध है। रचना बड़ी ही सरस, सरल और अपूर्व है। पदलालित्य, वाक्यविन्यास, अनुप्रास और शब्दावलीकी छटा ये सब इसमें मौजूद हैं। जैन काव्यसाहित्यकी विशेषता यह है कि उसमें सरागताका वर्णन होते हुए भी वह गौण—अप्रधान रहता है और विरागता एवं आध्यात्मिकता लक्ष्य तथा मुख्य वर्णनीय होती है। यही बात इन दोनों काव्यग्रन्थोंमें है। काव्यग्रन्थके प्रेमियोंको ये दोनों काव्यग्रन्थ अवश्य ही पढ़ने योग्य हैं।

प्रमाणनौका और नवपदार्थनिश्चय ये दो ग्रन्थ भी वादीभ-सिंहके माने जाते हैं। प्रमाणनौका हमें उपलब्ध नहीं हो सकी और इसलिये उसके बारेमें नहीं कहा जा सकता है कि वह प्रस्तुत वादीभसिंहकी ही कृति है अथवा उनके उत्तर-वर्ती किसी दूसरे वादीभसिंहकी रचना है। नवपदार्थनिश्चय हमारे सामने है और जिसका परिचय अनेकान्त वर्ष १० किरण ४–५ में दिया गया है। इस परिचयसे हम इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि यह रचना स्याद्वादसिद्धि जैसे प्रौढ ग्रन्थोंके रचयिता की कृति ज्ञात नहीं होती। ग्रन्थकी भाषा, विषय और वर्णनशैली

प्राय: उतने प्रौढ नहीं हैं जितने उनमें हैं और न ग्रन्थका जैसा नाम है वैसा इसमें महत्त्वका विवेचन है—साधारण तौरसे नव-पदार्थोंके मात्र लक्षणादि दिये गये हैं। अन्त:परीक्षणपरसे यह प्रसिद्ध और प्राचीन तर्क-काव्यग्रन्थकार वादीभसिंहसूरिसे भिन्न और उत्तरवर्ती किसी दूसरे वादीभसिंहकी रचना जान पड़ती है। ग्रन्थके अन्तमें जो समाप्तिपुष्पिकावाक्य पाया जाता है उसमें इसे 'भट्टारक वादीभसिंहसूरि' की कृति प्रकट भी किया गया है[1]। यह रचना ७२ अनुष्टुप् और १ मालिनी कुल ७३ पद्योंमें समाप्त है। रचना साधारण और औपदेशिक है और प्राय: अशुद्ध है। विद्वानोंको इसके साहित्यादिपर विशेष विचार करके उसके समयादिका निर्णय करना चाहिए।

इस तरह ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है। आशा है इस प्रयत्नसे पाठकोंको कुछ लाभ पहुँचेगा।

जैन-पुस्तक भण्डार, —दरबारीलाल कोठिया,
२३ दरियागंज, देहली, (न्यायाचार्य)
७ अप्रेल १९५०

---

१ 'इति श्रीभट्टारकवादीभसिंहसूरिविरचितो नवपदार्थनिश्चय:'।

स्याद्वादसिद्धि

हिन्दी-सारांश

१. जीव-सिद्धि

मङ्गलाचरण—श्रीवर्द्धमानस्वामीके लिये मेरा नम्र नमस्कार है जो विश्ववेदी (सर्वज्ञ) हैं, नित्यानन्दस्वभाव हैं और भक्तोंको अपने समान बनानेवाले हैं—उनकी जो भक्ति एवं उपासना करते हैं वे उन जैसे उत्कृष्ट आत्मा (परमात्मा) बन जाते हैं।

ग्रन्थका उद्देश्य—संसारके सभी जीव सुख चाहते हैं, परन्तु उसका उपाय नहीं जानते। अतः प्रस्तुत ग्रन्थद्वारा सुखके उपायका कथन किया जाता है क्योंकि बिना कारणके कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता।

ग्रन्थारम्भ—यदि प्राणियोंको प्राप्त सुख-दुखादिरूप कार्य बिना कारणके हो तो किसीको ही सुख और किसीको ही दुःख क्यों होता है, सभीको केवल सुख ही अथवा केवल दुख ही क्यों नहीं होता? तात्पर्य यह कि संसारमें जो सुखादिका वैषम्य—कोई सुखी और कोई दुखी—देखा जाता है वह कारणभेदके बिना सम्भव नहीं है।

तथा कोई कफप्रकृतिवाला है, कोई वातप्रकृतिवाला है और कोई पित्तप्रकृतिवाला है सो यह कफादिकी विषमतारूप कार्य भी जीवोंके बिना कारणभेदके नहीं बन सकता है और जो स्त्री आदिके सम्पर्कसे सुखादि माना जाता है वह भी

बिना कारणके असम्भव है, क्योंकि स्त्री कहीं अन्तक—घातक का भी काम करती हुई देखी जाती है—किसीको वह विषादि देकर मारनेवाली भी होती है।

क्या बात है कि सर्वाङ्ग सुन्दर होनेपर भी कोई किसीके द्वारा ताडन-वध-बन्धनादिको प्राप्त होता है और कोई तोता मैना आदि पक्षी अपने भक्षकोंद्वारा भी रक्षित होते हुए बड़े प्रेमसे पाले-पोषे जाते हैं ?

अतः इन सब बातोंसे प्राणियोंके सुख-दुखके अन्तरङ्ग कारण धर्म और अधर्म अनुमानित होते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—धर्म और अधर्म हैं, क्योंकि प्राणियोंको सुख अथवा दुख अन्यथा नहीं हो सकता।' जैसे पुत्रके सद्भावसे उसके पितारूप कारणका अनुमान किया जाता है।

चार्वाक—अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें व्यभिचार (अर्थके अभावमें होना) देखा जाता है ?

जैन—यह बात तो प्रत्यक्षमें भी समान है, क्योंकि उसमें भी व्यभिचार देखा जाता है—सीपमें चांदीका, रज्जुमें सर्पका और बालोंमें कीडोंका प्रत्यक्षज्ञान अर्थके अभावमें भी देखा गया है और इस लिये प्रत्यक्ष तथा अनुमानमें कोई विशेषता नहीं है जिससे प्रत्यक्षको तो प्रमाण कहा जाय और अनुमान को अप्रमाण।

चार्वाक—जो प्रत्यक्ष निर्बाध है वह प्रमाण माना गया है और जो निर्बाध नहीं है वह प्रमाण नहीं माना गया। अत एव सीपमें चांदीका आदि प्रत्यक्षज्ञान निर्बाध न होनेसे प्रमाण नहीं हैं ?

जैन—तो जिस अनुमानमें बाधा नहीं है—निर्बाध है उसे भी प्रत्यक्षकी तरह प्रमाण मानिये, क्योंकि प्रत्यक्षविशेषकी तरह

अनुमानविशेष भी निर्बाध सम्भव है। जैसे हमारे सद्भावसे पितामह (बाबा) आदिका अनुमान[1] निर्बाध माना जाता है।

इस तरह अनुमानके प्रमाण सिद्ध हो जानेपर उसके द्वारा धर्म और अधर्म सिद्ध होजाते हैं, क्योंकि कार्य कर्ताकी अपेक्षा लेकर ही होता है— उसकी पपेक्षा लिये बिना वह उत्पन्न नहीं होता और तभी वे धर्माधर्म सुख-दुःखादिके जनक होते हैं। अतः अर्थापत्तिरूप अनुमान प्रमाणसे हम सिद्ध करते हैं कि—'धर्मादिका कर्ता जीव है, क्योंकि सुखादि अन्यथा नहीं हो सकते।' प्रकट है कि जीवमें धर्मादिसे सुखादि होते हैं, अतः वह उनका कर्ता है, था और आगे भी होगा और इस तरह परलोकी नित्य आत्मा (जीव) सिद्ध होता है।

जीवकी सिद्धि एक दूसरे अनुमानसे भी होती है और जो निम्न प्रकार है:—

'जीव पृथिवी आदि पंच भूतोंसे भिन्न तत्त्व है, क्योंकि वह सत् होता हुआ चैतन्यस्वरूप है और अहेतुक (नित्य) है।'

आत्माको चैतन्यस्वरूप माननेमें चार्वाकोंको भी विवाद नहीं है, क्योंकि उन्होंने भी भूतसंहतिसे उत्पन्न विशिष्ट कार्यको ज्ञानरूप माना है। किंतु ज्ञान भूतसंहतिरूप शरीरका कार्य नहीं है, क्योंकि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे वह शरीरका कार्य प्रतीत नहीं होता। प्रकट है कि जिस इन्द्रियप्रत्यक्षसे मिट्टी आदिका ग्रहण होता है उसी इन्द्रियप्रत्यक्षसे उसके घटादिक विकाररूप कार्योंका भी ग्रहण होता है और इसलिये घटादिक मिट्टी आदिके कार्य माने जाते हैं। परन्तु यह बात शरीर और ज्ञानमें नहीं

---

[1] 'हमारे पितामह, प्रपितामह आदि थे, क्योंकि हमारा सद्भाव अन्यथा नहीं हो सकता था।'

है—शरीर तो इन्द्रियप्रत्यक्षसे ग्रहण किया जाता है और ज्ञान स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे । यह कौन नहीं जानता कि शरीर तो आंखों से देखा जाता है किंतु ज्ञान आंखोंसे देखनेमें नहीं आता[1] । अतः दोनोंकी विभिन्न प्रमाणोंसे प्रतीति होनेसे उनमें परस्पर कारणकार्यभाव नहीं है । जिनमें कारणकार्यभाव होता है वे विभिन्न प्रमाणोंसे गृहीत नहीं होते । अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा भूतसंहतिरूप शरीरका कार्य नहीं है । और इसलिये वह अहेतुक —नित्य भी सिद्ध है ।

चार्वाक—यदि ज्ञान शरीरका कार्य नहीं है तो न हो पर वह शरीरका स्वभाव अवश्य है और इसलिये वह शरीरसे भिन्न तत्त्व नहीं है, अतः उक्त हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध है ?

जैन—नहीं, दोनोंकी पर्यायें भिन्न भिन्न देखी जाती हैं, जिस तरह शरीरसे बाल्यादि अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं उस तरह रागादिपर्यायें उससे उत्पन्न नहीं होतीं—वे चैतन्यस्वरूप आत्मासे ही उत्पन्न होती हैं । किंतु जो जिसका स्वभाव होता है वह उससे भिन्न पर्यायवाला नहीं होता । जैसे सड़े महुआ और गुडादिकसे उत्पन्न मदिरा उनका स्वभाव होनेसे भिन्न द्रव्य नहीं है और न भिन्न पर्यायवाली है । अतः सिद्ध है कि ज्ञान शरीरका स्वभाव नहीं है ।

अत एव प्रमाणित होता है कि आत्मा भूतसंघातसे भिन्न तत्त्व है और वह उसका न कार्य है तथा न स्वभाव है ।

---

1 शरीरे दृश्यमानेऽपि न चैतन्यं विलोक्यते ।
शरीरं न च चैतन्य यतो भेदस्तयोस्ततः ॥
चक्षुषा वीक्ष्यते गात्रं चैतन्यं संविदा यतः ।
भिन्नज्ञानोपलम्भेन ततो भेदस्तयोः स्फुटम् ॥ —पद्मपुराण ।

इस तरह परलोकी नित्य आत्माके सिद्ध होजानेपर स्वर्ग-नरकादिरूप परलोक भी सिद्ध हो जाता है। अतः चार्वाकोंको उनका निषेध करना तर्कयुक्त नहीं है। इसलिये जो जीव सुख चाहते हैं उन्हें उसके उपायभूत धर्मको अवश्य करना चाहिए, क्योंकि बिना कारणके कार्य उत्पन्न नहीं होता' यह सर्वमान्य सिद्धान्त है और जिसे ग्रन्थके आरम्भमें ही हम ऊपर कह आये हैं।

२. फलभोक्तृत्वाभावसिद्धि

बौद्ध आत्माको भूतसंघातसे भिन्न तत्त्व मान कर भी उसे सर्वथा क्षणिक—अनित्य स्वीकार करते हैं, परन्तु वह युक्त नहीं है; क्योंकि आत्माको सर्वथा क्षणिक माननेमें न धर्म बनता है और न धर्मफल बनता है। स्पष्ट है कि उनके क्षणिकत्व सिद्धान्तानुसार जो आत्मा धर्म करनेवाला है वह उसी समय नष्ट हो जाता है और ऐसी हालतमें वह स्वर्गादि धर्मफलका भोक्ता नहीं हो सकता। और यह नियम है कि 'कर्ता ही फलभोक्ता होता है, अन्य नहीं।'

बौद्ध—यद्यपि आत्मा, जो चित्तक्षणोंके समुदायरूप है, क्षणिक है तथापि उसके कार्यकारणरूप सन्तानके होनेसे उसके धर्म और धर्मफल दोनों बन जाते हैं और इसलिये 'कर्ता ही फलभोक्ता होता है' यह नियम उपपन्न हो जाता है ?

जैन—अच्छा, तो यह बतलाइये कि कर्ताको फल प्राप्त होता है या नहीं ? यदि नहीं, तो फलका अभाव आपने भी स्वीकार कर लिया। यदि कहें कि प्राप्त होता है तो कर्ताके नित्यपनेका प्रसंग आता है, क्योंकि उसे फल प्राप्त करने तक ठहरना पड़ेगा। प्रसिद्ध है कि जो धर्म करता है उसे ही उसका फल

मिलता है अन्यको नहीं। किंतु जब आप आत्माको निरन्वय क्षणिक मानते हैं तो उसके नाश होजानेपर फल दूसरा चित्त ही भोगेगा, जो कर्ता नहीं है और तब 'कर्ताको ही फल प्राप्त होता है' यह कैसे सम्भव है ?

बौद्ध—जैसे पिताकी कमाईका फल पुत्रको मिलता है और यह कहा जाता है कि पिताको फल मिला उसी तरह कर्ता आत्मा को भी फल प्राप्त हो जाता है ?

जैन—आपका यह केवल कहना मात्र है—उससे प्रयोजन कुछ भी सिद्ध नहीं होता। अन्यथा पुत्रके भोजन कर लेनेसे पिताके भी भोजन कर लेनेका प्रसंग आवेगा।

बौद्ध—व्यवहार अथवा संवृत्तिसे कर्ता फलभोक्ता बन जाता है, अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन—हमारा प्रश्न है कि व्यवहार अथवा संवृत्तिसे आप-को क्या अर्थ विवक्षित है ? धर्मकर्ताको फल प्राप्त होता है, यह अर्थ विवक्षित है अथवा धर्मकर्ताको फल प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ इष्ट है या धर्मकर्ताको कथंचित् फल प्राप्त होता है, यह अर्थ अभिप्रेत है ? प्रथमके दो पक्षोंमें वही दूषण आते हैं जो ऊपर कहे जा चुके हैं और इस लिये ये दोनों पक्ष तो निर्दोष नहीं हैं। तीसरा पक्ष भी बौद्धोंके लिये इष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उससे उनके क्षणिक सिद्धान्तकी हानि होती है और स्याद्वादमतका प्रसङ्ग आता है।

दूसरे, यदि संवृत्तिसे धर्मकर्ता फलभोक्ता हो तो संसार अवस्थामें जिस चित्तने धर्म किया था उसे मुक्त अवस्थामें भी संवृत्तिसे उसका फलभोक्ता मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि जिस संसारी चित्तने धर्म किया था उस संसारी चित्तको ही

फल मिलता है मुक्तचित्तको नहीं, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि धर्मकर्ता संसारी चित्तको भी उसका फल नहीं मिल सकता। कारण, वह उसी समय नष्ट हो जाता है और फल भोगनेवाला संसारी चित्त दूसरा ही होता है फिर भी यदि आप उसे फलभोक्ता मानते हैं तो मुक्त चित्तको भी उसका फल भोक्ता कहिये, क्योंकि मुक्त और संसारी दोनों ही चित्त फलसे सर्वथा भिन्न तथा नाशकी अपेक्षासे परस्परमें कोई विशेषता नहीं रखते। यदि उनमें कोई विशेषता हो तो उसे बतलाना चाहिए।

बौद्ध—पूर्व और उत्तरवर्ती संसारी चित्त क्षणोंमें उपादानोपादेयरूप विशेषता है जो संसारी और मुक्त चित्तोंमें नहीं है और इसलिए उक्त दोष नहीं है?

जैन—चित्तक्षण जब सर्वथा भिन्न और प्रतिसमय नाशशील हैं तो उनमें उपादानोपादेयभाव बन ही नहीं सकता है। तथा निरन्वय होनेसे उनमें एक सन्तति भी असम्भव है। क्योंकि हम आपसे पूछते हैं कि वह सन्तति क्या है? सादृश्यरूप है या देश-काल सम्बन्धी अन्तरका न होना (नैरन्तर्य) रूप है अथवा एक कार्यको करना रूप है? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है। कारण, निरंशवादमें सादृश्य सम्भव नहीं है–सभी क्षण परस्पर विलक्षण और भिन्न भिन्न माने गये हैं। अन्यथा पिता और पुत्रमें भी ज्ञानरूपसे सादृश्य होनेसे एक सन्ततिके माननेका प्रसङ्ग आवेगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि बौद्धोंके यहां देश और काल कल्पित माने गये हैं और तब उनकी अपेक्षासे होनेवाला नैरन्तर्य भी कल्पित कहा जायगा, किंतु कल्पितसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है अन्यथा कल्पित अग्निसे दाह और मिथ्या सर्पदंशसे मरणरूप कार्य भी हो

जाने चाहिए किन्तु वे नहीं होते। एक कार्यको करनारूप सन्तति भी नहीं बनती; क्योंकि क्षणिकवादमें उस प्रकारका ज्ञान ही सम्भव नहीं है। यदि कहा जाय कि एकत्ववासनासे उक्त ज्ञान हो सकता है अर्थात् जहां 'सोऽहं'—'वही मैं हूं' इस प्रकारका ज्ञान होता है वहीं उपादानोपादेयरूप सन्तति मानी गई है और उक्त ज्ञान एकत्ववासनासे होता है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है। वह इस प्रकार है—जब एकत्वज्ञान सिद्ध हो तब एकत्व-वासना बने और जब एकत्ववासना बन जाय तब एकत्वज्ञान सिद्ध हो। और इस तरह दोनों ही असिद्ध रहते हैं। केवल कार्य-कारणरूपतासे सन्तति मानना भी उचित नहीं है, अन्यथा बुद्ध और संसारियोंमें भी एक सन्तानका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि उन में कार्यकारणभाव है—वे बुद्धके द्वारा जाने जाते हैं और यह नियम है कि जो कारण नहीं होता वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता—अर्थात् जाना नहीं जाता। तात्पर्य यह कि कारण ही ज्ञानका विषय होता है और संसारी बुद्धके विषय होनेसे वे कारण हैं तथा बुद्धचित्त उनका कार्य है अतः उनमें भी एक सन्ततिका प्रसंग आता है।

अतः आत्माको सर्वथा क्षणिक और निरन्वय माननेपर धर्म तथा धर्मफल दोनों ही नहीं बनते, किंतु उसे कथंचित् क्षणिक और अन्वयी स्वीकार करनेसे वे दोनों बन जाते हैं। 'जो मैं बाल्यावस्थामें था वही उस अवस्थाको छोड़कर अब मैं युवा हूं।' ऐसा प्रत्यभिज्ञान नामका निर्बाध ज्ञान होता है और जिससे आत्मा कथंचित् नित्य तथा अनित्य प्रतीत होता है और प्रतीतिके अनुसार वस्तुकी व्यवस्था है।

३. युगपदनेकान्तसिद्धि

एक साथ तथा क्रमसे वस्तु अनेकधर्मात्मक है, क्योंकि सन्तान आदिका व्यवहार उसके बिना नहीं होसकता। प्रकट है कि बौद्ध जिस एक चित्तको कार्यकारणरूप मानते हैं और उसमें एक सन्ततिका व्यवहार करते हैं वह यदि पूर्वोत्तर क्षणोंकी अपेक्षा नानात्मक न हो तो न तो एक चित्त कार्य एवं कारण दोनोंरूप हो सकता है और न उसमें सन्ततिका व्यवहार ही बन सकता है।

बौद्ध—बात यह है कि एक चित्तमें जो कार्यकारणादिका भेद माना गया है वह व्यावृत्तिद्वारा, जिसे अपोह अथवा अन्यापोह कहते हैं, कल्पित है वास्तविक नहीं ?

जैन उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि व्यावृत्ति अवस्तुरूप होनेसे उसके द्वारा भेदकल्पना सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्षादिसे उक्त व्यावृत्ति सिद्ध भी नहीं होती, क्योंकि वह अवस्तु है और प्रत्यक्षादिकी वस्तुमें ही प्रवृत्ति होती है।

बौद्ध— ठीक है कि प्रत्यक्षसे व्यावृत्ति सिद्ध नहीं होती पर वह अनुमानसे अवश्य सिद्ध होती है और इसलिये वस्तुमें व्यावृत्ति-कल्पित ही धर्मभेद है ?

जैन—नहीं, अनुमानसे व्यावृत्तिकी सिद्धि माननेमें अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है। वह इस तरहसे है—व्यावृत्ति जब सिद्ध हो तो उससे अनुमान सम्पादक साध्यादि धर्मभेद सिद्ध हो और जब साध्यादि धर्मभेद सिद्ध हो तब व्यावृत्ति सिद्ध हो। अतः अनुमानसे भी व्यावृत्तिकी सिद्धि सम्भव नहीं है। ऐसी स्थितिमें उसके द्वारा धर्मभेदको कल्पित बतलाना असंगत है।

बौद्ध—विकल्प व्यावृत्तिग्राहक है, अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन— यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्पको आपने अप्रमाण माना है। अपि च, यह कल्पनात्मक व्यावृत्ति वस्तुओंमें सम्भव नहीं है अन्यथा वस्तु और अवस्तुमें साङ्कर्य होजायगा।

इसके सिवाय, खण्डादिमें जिस तरह अगोनिवृत्ति है उसी तरह गुल्मादिमें भी वह है, क्योंकि उसमें कोई भेद नहीं है— भेद तो वस्तुनिष्ठ है और व्यावृत्ति अवस्तु है। और उस हालतमें 'गायको लाओ' कहनेपर जिसप्रकार खण्डादिका आनयन होता है उसीप्रकार गुल्मादिका भी आनयन होना चाहिये।

यदि कहा जाय कि 'अगोनिवृत्तिका खण्डादिमें संकेत है, अतः 'गायको लाओ' कहनेपर खण्डादिरूप गायका ही आनयन होता है, गुल्मादिका नहीं, क्योंकि वे अगो हैं—गो नहीं हैं' तो यह कहना भी संगत नहीं है। कारण, अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है। खण्डादिमें गोपना जब सिद्ध होजाय तो उससे गुल्मादिमें अगोपना सिद्ध हो और उनके अगो सिद्ध होनेपर खण्डादिमें गोपना की सिद्ध हो।

अगर यह कहें कि 'वहनादि कार्य खण्डादिमें ही संभव हैं, अतः 'गो' का व्यपदेश उन्हींमें होता है, गुल्मादिकमें नहीं' तो यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वह कार्य भी उक्त गुल्मादिमें क्यों नहीं होता, क्योंकि उस कार्यका नियामक अपोह ही है और वह अपोह सब जगह अविशिष्ट है।

तात्पर्य यह कि अपोहकृत वस्तमें धर्मभेदकी कल्पना उचित नहीं है, किन्तु स्वरूपतः ही उसे मानना संगत है। अतः जिस प्रकार एक ही चित्त पूर्व क्षणकी अपेक्षा कार्य और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कारण होनेसे एक साथ उसमें कार्यता और कारणतारूप दोनों धर्म वास्तविक सिद्ध होते हैं उसी प्रकार सब वस्तुएं युगपत् अनेकधर्मात्मक सिद्ध हैं।

४. क्रमानेकान्तसिद्धि

पूर्वोत्तर चित्तक्षणोंमें यदि एक वास्तविक अनुस्यूतपना न हो तो उनमें एक सन्तान स्वीकार नहीं की जा सकती है और सन्तान के अभावमें फलाभाव निश्चित है क्योंकि करनेवाले चित्तक्षणसे फलभोगनेवाला चित्तक्षण भिन्न है और इसलिये एकत्वके बिना 'कर्ताको ही फलप्राप्ति' नहीं हो सकती।

यदि कहा जाय कि 'पूर्व क्षण उत्तर क्षणका कारण है, अतः उसके फलप्राप्ति हो जायगी' तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि कारणकार्यभाव तो पिता-पुत्रमें भी है और इसलिये पुत्रकी क्रियाका फल पिताको भी प्राप्त होनेका प्रसंग आयेगा।

बौद्ध—पिता-पुत्रमें उपादानोपादेयभाव न होनेसे पुत्रकी क्रियाका फल पिताको प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमें तो उपादनोपादेयभाव मौजूद है, अतः उसके फलका अभाव नहीं हो सकता?

जैन—यह उपादानोपादेयभाव सर्वथा भिन्न पूर्वोत्तर क्षणोंकी तरह पिता-पुत्रमें भी क्यों नहीं है, क्योंकि भिन्नता उभयत्र एक-सी है। यदि उसमें कथंचिद् अभेद मानें तो जैनपनेका प्रसंग आयेगा, कारण जैनोंने ही कथंचिद् अभेद उनमें स्वीकार किया है, बौद्धोंने नहीं।

बौद्ध—पिता-पुत्रमें सादृश्य न होनेसे उनमें उपादानोपादेय-भाव नहीं है, किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमें तो सादृश्य पाया जानेसे उनमें उपादानोपादेयभाव है। अतः उक्त दोष नहीं है?

जैन—यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि उक्त क्षणोंमें सादृश्य मानने पर उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं बन सकता। सादृश्यमें तो वह नष्ट ही हो जाता है। वास्तवमें सदृशता उनमें

होती है जो भिन्न होते हैं और उपादानोपादेयभाव अभिन्न (एक) में होता है।

बौद्ध—बात यह है कि पिता पुत्रमें देश-कालकी अपेक्षासे होनेवाला नैरन्तर्य नहीं है और उसके न होनेसे उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं है। किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमें नैरन्तर्य होनेसे उपादानोपादेयभाव है ?

जैन—यह कहना भी युक्त नहीं है, कारण बौद्धोंके यहाँ स्वलक्षणरूप क्षणोंसे भिन्न देशकालादिको नहीं माना गया है और तब उनकी अपेक्षासे कल्पित नैरन्तर्य भी उनके यहां नहीं बन सकता है। अतः उससे उक्त क्षणोंमें उपादानोपादेयभावकी कल्पना और पिता-पुत्रमें उसका निषेध करना सर्वथा असंगत है।

अतः कार्यकारणरूपसे सर्वथा भिन्न भी क्षणोंमें कार्यकारणभावकी सिद्धिके लिये उनमें एक अन्वयी द्रव्यरूप सन्तान अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

एक बात और है। जब आप क्षणोंमें निर्बाध प्रत्ययसे भेद स्वीकार करते हैं तो उनमें निर्बाध प्रत्ययसे ही अभेद (एकत्व-एकपना) भी मानना चाहिए; क्योंकि वे दोनों ही वस्तुमें सुप्रतीत होते हैं।

यदि कहा जाय कि दोनोंमें परस्पर विरोध होनेसे वे दोनों वस्तुमें, नहीं माने जा सकते हैं तो यह कहना भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि अनुपलभ्यमानोंमें विरोध होता है, उपलभ्यमानोंमें नहीं। और भेद अभेद दोनों वस्तुमें उपलब्ध होते हैं। अतः भेद और अभेद दोनों रूप वस्तु मानना चाहिए।

यहां एक बात और विचारणीय है। वह यह कि आप (बौद्धों) के यहाँ सत् कार्य माना गया है या असत् कार्य ? दोनों

ही पक्षोंमें आकाश तथा खरविषाणकी तरह कारणापेक्षा सम्भव नहीं है।

यदि कहें कि पहले असत् और पीछे सत् कार्य हमारे यहाँ माना गया है तो आपका क्षणिकत्व सिद्धान्त नहीं रहता; क्योंकि वस्तुके पहले और पीछे विद्यमान रहने पर ही वे दोनों (सत्व और असत्व) वस्तुके बनते हैं। किन्तु स्याद्वादी जैनोंके यहां यह दोष नहीं है, कारण वे कार्यको व्यक्ति (विशेष) रूपसे असत् और सामान्यरूपसे सत दोनों रूप स्वीकार करते हैं और इस स्वीकारसे उनके किसी भी सिद्धान्तका घात नहीं होता। अत: इससे भी वस्तु नानाधर्मात्मक सिद्ध है।

बौद्धोंने जो चित्रज्ञान स्वीकार किया है उसे उन्होंने नानात्मक मानते हुए कार्यकारणतादि अनेकधर्मात्मक प्रतिपादन किया है। इसके सिवाय, उन्होंने रूपादिको भी नानाशक्त्यात्मक बतलाया है। एक रूपक्षण अपने उत्तरवर्ती रूपक्षणमें उपादान तथा रसादिक्षणमें सहकारी होता है और इस तरह एक ही रूपादि क्षणमें उपादानत्व और सहकृत्व दोनों शक्तियां उनके द्वारा मानी गई हैं।

यदि रूपादि क्षण सर्वथा भिन्न हों, उनमें कथंचिद् भी अभेद—एकपना न हो तो संतान, सादृश्य साध्य, साधन और उनकी क्रिया ये एक भी नहीं बन सकते हैं। न ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि बन सकते हैं। अतः क्षणोंकी अपेक्षा अनेकान्त और अन्वयी रूपकी अपेक्षा एकान्त दोनों वस्तुमें सिद्ध हैं। एक ही हेतु अपने साध्यकी अपेक्षा गमक और इतरकी अपेक्षा अगमक दोनों रूप देखा जाता है। वास्तवमें यदि वस्तु एकानेकात्मक न हो तो स्मरणादि असम्भव हैं। अतः स्मरणादि अन्यथानुपपत्तिके बलसे वस्तु अनेकान्तात्मक प्रसिद्ध होती है

और अन्यथानुपपत्ति ही हेतुकी गमकतामें प्रयोजक है, पक्षधर्मत्वादि नहीं। कृत्तिकोदय हेतुमें पक्षधर्मत्व नहीं है किन्तु अन्यथानुपपत्ति है, अतः उसे गमक स्वीकार किया गया है। और तत्पुत्रत्वादि हेतुमें पक्षधर्मत्वादि तीनों हैं, पर अन्यथानुपपत्ति नहीं है और इसलिये उसे गमक स्वीकार नहीं किया गया है।

अतएव हेतु, साध्य, स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि चित्तक्षणोंमें एकपनेके बिना नहीं बन सकते हैं, इसलिये वस्तुमें क्रमसे अनेकान्त भी सहानेकान्तकी तरह सुस्थित होता है।

५. भोक्तृत्वाभावसिद्धि

वस्तुको सर्वथा नित्य मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस हालतमें आत्माके कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों नहीं बन सकते हैं। कर्तृत्व माननेपर भोक्तृत्व और भोक्तृत्व माननेपर कर्तृत्वके अभावका प्रसंग आता है; क्योंकि ये दोनों धर्म आत्मामें एक साथ नहीं होते – क्रमसे होते हैं और क्रमसे उन्हें स्वीकार करने पर वस्तु नित्य नहीं रहती। कारण, कर्तृत्वको छोड़कर भोक्तृत्व और भोक्तृत्वको त्यागकर कर्तृत्व होता है और ये दोनों ही आत्मासे अभिन्न होते हैं। यदि उन्हें भिन्न मानें तो 'वे आत्माके हैं अन्यके नहीं' यह व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि उनका आत्माके साथ समवाय सम्बन्ध है और इसलिये 'वे आत्माके हैं, अन्यके नहीं' यह व्यपदेश हो जाता है तो यह कहना योग्य नहीं है; क्योंकि उक्त समवाय प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे प्रतीत नहीं होता। यदि प्रत्यक्षसे प्रतीत होता तो उसमें विवाद ही नहीं होता, किन्तु विवाद देखा जाता है।

यौग—आगमसे समवाय सिद्ध है, अतः उक्त दोष नहीं है?

जैन—नहीं, जिस आगमसे वह सिद्ध है उसकी प्रमाणता

अनिश्चित है। अतः उससे समवायकी सिद्धि बतलाना असंगत है।

यौग—समवायकी सिद्धि निम्न अनुमानसे होती है:—'इन शाखाओंमें यह वृक्ष है' यह बुद्धि सम्बन्धपूर्वक है, क्योंकि वह 'इहेदं' बुद्धि है। जैसे 'इस कुण्डमें यह दही है' यह बुद्धि। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार 'इस कुण्डमें यह दही है' यह ज्ञान संयोग सम्बन्धके निमित्तसे होता है इसी प्रकार 'इन शाखाओंमें यह वृक्ष है', यह ज्ञान भी समवाय सम्बन्धपूर्वक होता है। अतः समवाय अनुमानसे सिद्ध है?

जैन—नहीं, उक्त हेतु 'इस वनमें यह आम्रादि हैं' इस ज्ञानके साथ व्यभिचारी है क्योंकि यह ज्ञान 'इहेदं' रूप तो है किन्तु किसी अन्य सम्बन्ध-पूर्वक नहीं होता और न यौगोंने उनमें समवाय या अन्य सम्बन्ध स्वीकार किया भी है। केवल उसे उन्होंने अन्तरालाभावपूर्वक प्रतिपादन किया है और यह प्रकट है कि अन्तरालाभाव सम्बन्ध नहीं है। अतः इस अन्तरालाभाव-पूर्वक होनेवाले 'इहेदं' रूप ज्ञानके साथ उक्त हेतु व्यभिचारी होनेसे उसके द्वारा समवायकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

ऐसी हालतमें बुद्ध्यादि एवं कर्तृत्वादिसे आत्मा भिन्न ही रहेगा और तब जड आत्मा धर्मकर्ता अथवा फल-भोक्ता कैसे बन सकता है? अतः क्षणिकैकान्तकी तरह नित्यैकान्तका मानना भी निष्फल है।

अपि च, आप यह बतलाइये कि समवाय क्या काम करता है? आत्मा और बुद्ध्यादिमें अभेद करता है अथवा उनके भेदको मिटाता है? अन्य विकल्प सम्भव नहीं है? प्रथम पक्षमें बुद्ध्यादकी तरह आत्मा अनित्य हो जायगा अथवा आत्माकी तरह बुद्ध्यादि नित्य हो जायेंगे; क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। दूसरे पक्षमें आत्मा और बुद्ध्यादिके भेद मिटनेपर घट-पटा-

दिकी तरह वे दोनों स्वतंत्र हो जायेंगे। अतः समवायसे पहले इनमें न तो भेद ही माना जा सकता है और न अभेद ही, क्योंकि उक्त दूषण आते हैं। तथा भेदाभेद उनमें आपने स्वीकार नहीं किया तब समवायको माननेसे क्या फल है?

यौग—भेदको हमने अन्योन्याभावरूप माना है अतः आत्मा और बुद्ध्यादिमें स्वतंत्रपनेका प्रसंग नहीं आता?

जैन—यह कहना भी आपका ठीक नहीं है, क्योंकि अन्योन्याभावमें भी घट-पटादिकी तरह स्वतन्त्रता रहेगी—वह मिट नहीं सकती। यदि वह मिट भी जाय तो अभेद होनेसे उक्त नित्यता-अनित्यताका दोष तदवस्थित है।

यौग—पृथक्त्व गुणसे उनमें भेद बन जाता है अतः अभेद होनेका प्रसंग नहीं आता और न फिर उसमें उक्त दोष रहता है?

जैन—नहीं, पृथक्त्व गुणसे भेद मानने पर पूर्ववत् आत्मा और बुद्ध्यादिमें घटादिककी तरह भेद प्रसक्त होगा ही।

एक बात और है। समवायसे आत्मामें बुद्ध्यादिका सम्बन्ध माननेपर मुक्तजीवमें भी उनका सम्बन्ध मानना पड़ेगा, क्योंकि वह व्यापक और एक है।

यौग—बुद्ध्यादि अमुक्त-प्रभव धर्म हैं, अतः मुक्तोंमें उनके संबन्धका प्रसंग खड़ा नहीं होसकता है?

जैन—नहीं, बुद्ध्यादि मुक्तप्रभव धर्म क्यों नहीं है, इसका क्या समाधान है? क्योंकि बुद्ध्यादिका जनक आत्मा है और वह मुक्त तथा अमुक्त दोनों अवस्थाओंमें समान है? अन्यथा जनकस्वभावको छोड़ने और अजनकस्वभावको ग्रहण करनेसे आत्माके नित्यपनेका अभाव आवेगा।

यौग—बुद्ध्यादि अमुक्त समवेतधर्म हैं, इसलिये वे अमुक्तप्रभव हैं मुक्तप्रभव नहीं हैं?

जैन—नहीं, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है। बुद्ध्यादि जब अमुक्तसमवेत सिद्ध होजायें तब वे अमुक्त-प्रभव सिद्ध हों और उनके अमुक्तप्रभव सिद्ध होनेपर वे अमुक्त-समवेत सिद्ध हों। अतः समवायसे आत्मा तथा बुद्ध्यादिमें अभेदादि माननेमें उक्त दूषण आते हैं। और ऐसी दशामें वस्तुको सर्वथा नित्य माननेपर धर्मकर्ताके फलका अभाव सुनिश्चित है।

६. सर्वज्ञाभावसिद्धि

नित्यैकान्तका प्रणेता—उपदेशक भी सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि वह समीचीन अर्थका कथन करनेवाला नहीं है। दूसरी बात यह है कि वह सरागी भी है। अतः हमारी तरह दूसरोंको भी उसकी उपासना करना योग्य नहीं है।

सोचनेकी बात है कि जिसने अविचारपूर्वक स्त्री आदिका अपहरण करनेवाला तथा उसका नाश करनेवाला दोनों बनाये वह अपनी तथा दूसरोंकी अन्योंसे कैसे रक्षा कर सकता है?

साथ ही जो उपद्रव एवं झगड़े कराता है वह विचारक तथा सर्वज्ञ नहीं हो सकता। यह कहना युक्त नहीं कि वह उपद्रव-रहित है, क्योंकि ईश्वरके कोपादि देखा जाता है।

अतः यदि ईश्वरको आप इन सब उपद्रवोंसे दूर वीतराग एवं सर्वज्ञ मानें तो उसीको उपास्य भी स्वीकार करना चाहिये, अन्य दूसरेको नहीं। रत्नका पारखी काचका उपासक नहीं होता।

यह वीतराग-सर्वज्ञ ईश्वर भी निरुपाय नहीं है। अन्यथा वह न वक्ता बन सकता है और न सशरीरी। उसे वक्ता माननेपर वह सदा वक्ता रहेगा—अवक्ता कभी नहीं बन सकेगा।

यदि कहा जाय कि वह वक्ता और अवक्ता दोनों है, क्योंकि वह परिणामी है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण, इस

तरह वह नित्यानित्यरूप सिद्ध होनेसे स्याद्वादकी ही सिद्धि करेगा—कूटस्थ नित्यकी नहीं।

अपि च, उसे कूटस्थ नित्य माननेपर उसके वक्तापन बनता भी नहीं है। क्योंकि उसको सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण नहीं है। आगमको प्रमाण माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है। स्पष्ट है कि जब वह सर्वज्ञ सिद्ध होजाय तो उसका उपदेशरूप आगम प्रमाण सिद्ध हो और जब आगम प्रमाण सिद्ध हो तब वह सर्वज्ञ सिद्ध हो।

इसीतरह शरीर भी उसके नहीं बनता है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि वेदरूप आगम प्रमाण नहीं है क्योंकि उसमें परस्पर-विरोधी अर्थोंका कथन पाया जाता है। सभी वस्तुओंको उसमें सर्वथा भेदरूप अथवा सर्वथा अभेदरूप बतलाया गया है। इसीप्रकार प्राभाकर वेदवाक्यका अर्थ नियोग, भाट्ट भावना और वेदान्ती विधि करते हैं और ये तीनों परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी हालतमें यह निश्चय नहीं होसकता कि अमुक अर्थ प्रमाण है और अमुक नहीं।

अतः वेद भी निरुपाय एवं अशरीरी सर्वज्ञका साधक नहीं है और इसलिये नित्यैकान्तमें सर्वज्ञका भी अभाव सुनिश्चित है।

७. जगत्कर्त्तृत्वाभावसिद्धि

किन्तु हां, सोपाय वीतराग एवं हितोपदेशी सर्वज्ञ होसकता है क्योंकि उसका साधक अनुमान विद्यमान है। वह अनुमान यह है—

'कोई पुरुष समस्त पदार्थोंका साक्षात्कर्ता है, क्योंकि ज्योतिष-शास्त्रादिका उपदेश अन्यथा नहीं होसकता।' इस अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है।

पर ध्यान रहे कि यह अनुमान अनुपायसिद्ध सर्वज्ञका साधक नहीं है, क्योंकि वह वक्ता नहीं है। सोपायमुक्त बुद्धादि यद्यपि वक्ता हैं किन्तु उनके वचन सदोष होनेसे वे भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होते।

दूसरे, बौद्धोंने बुद्धको 'विधूतकल्पनाजाल' अर्थात् कल्पनाओं से रहित कहकर उन्हें अवक्ता भी प्रकट किया है और अवक्ता होनेसे वे सर्वज्ञ नहीं हैं।

तथा यौगों (नैयायिकों और वैशेषिकों) द्वारा अभिमत महेश्वर भी स्व-पर-द्रोही दैत्यादिका सृष्टा होनेसे सर्वज्ञ नहीं है।

यौग—महेश्वर जगतका कर्त्ता है, अतः वह सर्वज्ञ है; क्योंकि बिना सर्वज्ञताके उससे इस सुव्यवस्थित एवं सुन्दर जगतकी सृष्टि नहीं हो सकती है?

जैन—नहीं, क्योंकि महेश्वरको जगत्कर्ता सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।

यौग—निम्न प्रमाण है—'पर्वत आदि बुद्धिमानद्वारा बनाये गये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं तथा जड-उपादान-जन्य हैं। जैसे घटादिक।' जो बुद्धिमान उनका कर्ता है वह महेश्वर है। वह यदि असर्वज्ञ हो तो पर्वतादि उक्त कार्योंके समस्त कारकोंका उसे परिज्ञान न होनेसे वे असुन्दर, अव्यवस्थित और बेडौल भी उत्पन्न हो जायेंगे। अतः पर्वतादिका बनानेवाला सर्वज्ञ है?

जैन—यह कहना भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि यदि वह सर्वज्ञ होता तो वह अपने तथा दूसरोंके घातक दैत्यादि दुष्ट जीवोंकी सृष्टि न करता। दूसरी बात यह है कि उसे आपने अशरीरी भी माना है पर बिना शरीरके वह जगत्का कर्ता नहीं हो सकता। यदि उसके शरीरकी कल्पना की जाय तो महेश्वरका संसारी होना, उस शरीरके लिये अन्य-अन्य शरीरकी कल्पना करना आदि

अनेक दोष आते हैं। अतः महेश्वर जगतका कर्त्ता नहीं है और तब उसे उसके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करना अयुक्त है।

८. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि

इस तरह न बुद्ध सर्वज्ञ सिद्ध होता है और न महेश्वर आदि। पर ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है, अतः अन्ययोगव्यवच्छेद द्वारा अर्हन्त भगवान ही सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं।

मीमांसक—अर्हन्त वक्ता हैं, पुरुष हैं और प्राणादिमान हैं, अतः हम लोगोंकी तरह वे भी सर्वज्ञ नहीं हैं?

जैन—नहीं, क्योंकि वक्तापन आदिका सर्वज्ञपनेके साथ विरोध नहीं है। स्पष्ट है कि जो जितना अधिक ज्ञानवान् होगा वह उतना ही उत्कृष्ट वक्ता आदि होगा। आपने भी अपने मीमांसादर्शनकार जैमिनिको उत्कृष्ट ज्ञानके साथ ही उत्कृष्ट वक्ता आदि स्वीकार किया है।

मीमांसक—अर्हन्त वीतराग हैं, इसलिये उनके इच्छाके बिना वचनप्रवृत्ति नहीं हो सकती है?

जैन—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इच्छाके बिना भी सोते समय अथवा गोत्रस्खलन आदिमें वचनप्रवृत्ति देखी जाती है और इच्छा करनेपर भी मूर्ख शास्त्रवक्ता नहीं हो पाता। दूसरे, सर्वज्ञके निर्दोष इच्छा माननेमें भी कोई बाधा नहीं है और उस दशामें अर्हन्त भगवान् वक्ता सिद्ध हैं।

मीमांसक—अर्हन्तके वचन प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वे पुरुषके वचन हैं, जैसे बुद्धके वचन?

जैन—यह कथन भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि दोषवान् वचनोंको ही अप्रमाण माना गया है, निर्दोष वचनोंको नहीं। अतः

अर्हन्तके वचन निर्दोष होनेसे प्रमाण हैं और इसलिये वे ही सर्वज्ञ सिद्ध हैं।

६. अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि

सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिये जो 'ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है' यह अर्थापत्ति प्रमाण दिया गया है उसे मीमांसकोंकी तरह जैन भी प्रमाण मानते हैं, अतः उसे अप्रमाण होने अथवा उसके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध न होनेकी शंका निर्मूल होजाती है। अथवा, अर्थापत्ति अनुमानरूप ही है। और अनुमान प्रमाण है।

यदि कहा जाय कि अनुमानमें तो दृष्टान्तकी अपेक्षा होती है और उसके अविनाभावका निर्णय दृष्टान्तमें ही होता है किन्तु अर्थापत्तिमें दृष्टान्तकी अपेक्षा नहीं होती और न उसके अविनाभावका निर्णय दृष्टान्तमें होता है अपितु पक्षमें ही होता है, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि दोनोंमें कोई भेद नहीं है—दोनों ही जगह अविनाभावका निश्चय पक्षमें ही किया जाता है। सर्व विदित है कि अद्वैतवादियोंके लिये प्रमाणोंका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिये जो 'इष्टसाधन' रूप अनुमान प्रमाण दिया जाता है उसके अविनाभावका निश्चय पक्षमें ही होता है क्योंकि वहाँ दृष्टान्त का अभाव है। अतः जिस तरह यहाँ प्रमाणोंके अस्तित्वको सिद्ध करनेमें दृष्टान्तके बिना भी पक्षमें ही अविनाभावका निर्णय हो जाता है उसी तरह अन्य हेतुओंमें भी समझ लेना चाहिए। तथा इस अविनाभावका निर्णय विपक्षमें बाधक प्रमाणके प्रदर्शन एवं तर्कसे होता है। प्रत्यक्षादिसे उसका निर्णय असम्भव है और इसी लिये व्याप्ति एवं अविनाभावको ग्रहण करने रूपसे तर्कको पृथक् प्रमाण स्वीकार किया गया है। अतः अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है।

१०. वेदपौरुषेयत्वसिद्धि

मीमांसक—ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश अपौरुषेय वेदसे संभव है, अतः उसके लिये सर्वज्ञ स्वीकार करना उचित नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि वेद पद-वाक्यादिरूप होनेसे पौरुषेय है, जैसे भारत आदि शास्त्र।

मीमांसक—वेदमें जो वर्ण हैं वे नित्य हैं, अतः उनके समूहरूप पद और पदोंके समूहरूप वाक्य नित्य होनेसे उनका समूहरूप वेद भी नित्य है—वह पौरुषेय नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि वर्ण भिन्न-भिन्न देशों और कालोंमें भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं, इसलिये वे अनित्य हैं। दूसरे, ओठ, तालु आदिके प्रयत्नपूर्वक वे होते हैं और जो प्रयत्नपूर्वक होता है वह अनित्य माना गया है। जैसे घटादिक।

मीमांसक—प्रदीपादिकी तरह वर्णोंकी ओठ, तालु आदिके द्वारा अभिव्यक्ति होती है—उत्पत्ति नहीं। दूसरे, 'यह वही गकारादि है" ऐसी प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञा होनेसे वर्ण नित्य हैं ?

जैन—नहीं; ओठ, तालु आदि वर्णोंके व्यंजक नहीं हैं वे उनके कारक हैं। जैसे दण्डादिक घटादिके कारक हैं। अन्यथा घटादि भी नित्य होजायेंगे। क्योंकि हम भी कह सकते हैं कि दण्डादिक घटादि के व्यंजक हैं कारक नहीं। दूसरे, 'वही मैं हूँ' इस प्रत्यभिज्ञासे एक आत्माकी भी सिद्धिका प्रसंग आवेगा। यदि इसे भ्रान्त कहा जाय तो उक्त प्रत्यभिज्ञा भी भ्रान्त क्यों नहीं कही जा सकती है।

मीमांसक—आप वर्णोंको पुद्गलका परिणाम मानते हैं किन्तु जड पुद्गलपरमाणुओंका सम्बन्ध स्वयं नहीं होसकता। इसके सिवाय, वे एक श्रोताके कानमें प्रविष्ट होजानेपर उसी समय अन्यके द्वारा सुने नहीं जा सकेंगे ?

जैन—यह बात तो वर्णोंकी व्यंजक ध्वनियोंमें भी लागू हो सकती है। क्योंकि वे न तो वर्णरूप हैं और न स्वयं अपनी व्यंजक हैं। दूसरे, स्वाभाविक योग्यतारूप संकेतसे शब्दोंको हमारे यहाँ अर्थप्रतिपत्ति कराने वाला स्वीकार किया गया है और लोकमें सब जगह भाषावर्गणाएँ मानी गई हैं जो शब्द रूप बनकर सभी श्रोताओं द्वारा सुनी जाती हैं।

मीमांसक—'वेदका अध्ययन वेदके अध्ययनपूर्वक होता है, क्योंकि वह वेदका अध्ययन है, जैसे आजकलका वेदाध्ययन।' इस अनुमानसे वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है?

जैन—नहीं, क्योंकि उक्त हेतु अप्रयोजक है—हम भी कह सकते हैं कि 'पिटकका अध्ययन पिटकके अध्ययनपूर्वक होता है, क्योंकि वह पिटकका अध्ययन है, जैसे आजकलका पिटकाध्ययन।' इस अनुमानसे पिटक भी अपौरुषेय सिद्ध होता है।

मीमांसक—बात यह है कि पिटकमें तो बौद्ध कर्ताका स्मरण करते हैं और इसलिये वह अपौरुषेय सिद्ध नहीं होसकता। किन्तु वेदमें कर्त्ताका स्मरण नहीं किया जाता, अतः वह अपौरुषेय सिद्ध होता है?

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि बौद्धोंके पिटक सम्बन्धी कर्तृस्मरणको आप प्रमाण मानते हैं तो वे वेदमें भी अष्टकादिकको कर्त्ता स्मरण करते हैं अर्थात् वेदको भी वे सकर्तृक बतलाते हैं, अतः उसे भी प्रमाण स्वीकार करिये। अन्यथा दोनोंको अप्रमाण कहिए। अतः कर्त्ताके अस्मरणसे भी वेद अपौरुषेय सिद्ध नहीं होता और उस हालतमें वह पौरुषेय ही सिद्ध होता है।

११. परतः प्रामाण्यसिद्धि

मीमांसक—वेद स्वतः प्रमाण है, क्योंकि सभी प्रमाणोंकी प्रमाणता हमारे यहां स्वतः ही मानी गई है, अतः वह पौरुषेय नहीं है?

जैन—नहीं, क्योंकि अप्रमाणताकी तरह प्रमाणोंकी प्रमाणता भी स्वतः नहीं होती, गुणादि सामग्रीसे वह होती है। इन्द्रियोंके निर्दोष—निर्मल होनेसे प्रत्यक्षमें, त्रिरूपतासहित हेतुसे अनुमान- में और आप्तद्वारा कहा होनेसे आगममें प्रमाणता मानी गई है और निर्मलता आदि ही 'पर' हैं, अतः प्रमाणताकी उत्पत्ति पर- से सिद्ध है और ज्ञप्ति भी अनभ्यास दशामें परसे सिद्ध है। हां, अभ्यास दशामें ज्ञप्ति स्वतः होती है। अतः परसे प्रमाणता सिद्ध हो जाने पर कोई भी प्रमाण स्वतः प्रमाण सिद्ध नहीं होता और इसलिये वेद पौरुषेय है तथा वह सर्वज्ञका बाधक नहीं है।

१२. अभावप्रमाणदूषणसिद्धि

अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि भाव- प्रमाणसे अतिरिक्त अभावप्रमाणकी प्रतीति नहीं होती। प्रकट है कि 'यहां घड़ा नहीं है' इत्यादि जगह जो अभावज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष, स्मरण और अनुमान इन तीन ज्ञानोंसे भिन्न नहीं है। 'यहां' यह प्रत्यक्ष है, 'घड़ा' यह पूर्व दृष्ट घड़ेका स्मरण है और 'नहीं है' यह अनुपलब्धिजन्य अनुमान है। यहां और कोई ग्राह्य है नहीं जिसे अभावप्रमाण जाने। दूसरे, वस्तु भावाभावा- त्मक है और भावको जाननेवाला भावप्रमाण ही उससे अभिन्न अभावको भी जान लेता है, अतः उसको जाननेके लिये अभाव- प्रमाणकी कल्पना निरर्थक है। अतएव वह भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है।

१३. तर्कप्रामाण्यसिद्धि

सर्वज्ञका बाधक जब कोई प्रमाण सिद्ध न हो सका तो मीमांसक एक अन्तिम शंका और उठाता है। वह कहता है कि सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिये जो हेतु ऊपर दिया गया है उसके अविनाभावका ज्ञान असंभव है; क्योंकि उसको ग्रहण करने

वाला तर्क अप्रमाण है और उस हालतमें अन्य अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती है ? पर उसकी यह शंका भी निस्सार है क्योंकि व्याप्ति (अविनाभाव) को प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। व्याप्ति तो सर्वदेश और सर्वकालको लेकर होती है और प्रत्यक्षादि नियत देश और नियत कालमें ही प्रवृत्त होते हैं। अतः व्याप्तिको ग्रहण करने वाला तर्क प्रमाण है और उसके प्रमाण सिद्ध हो जानेपर उक्त सर्वज्ञ साधक हेतुके अविनाभावका ज्ञान उसके द्वारा पूर्णतः सम्भव है। अतः उक्त हेतुमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि कोई भी दोष न होनेसे उससे सर्वज्ञकी सिद्धि भली भांति होती है।

१४. गुण-गुणीअभेदसिद्धि

वैशेषिक गुण-गुणी, आदिमें सर्वथा भेद स्वीकार करते हैं और समवाय सम्बन्धसे उनमें अभेदज्ञान मानते हैं। परन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि न तो भिन्न रूपसे गुण-गुणी आदिकी प्रतीति होती है और न उनमें अभेदज्ञान कराने वाले समवायकी।

यदि कहा जाय कि 'इसमें यह है' इस प्रत्ययसे समवायकी सिद्धि होती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'इस गुणादिमें संख्या है' यह प्रत्यय भी उक्त प्रकारका है किन्तु इस प्रत्ययसे गुणादि और संख्यामें वैशेषिकोंने समवाय नहीं माना। अतः उक्त प्रत्यय समवायका प्रसाधक नहीं है।

अगर कहें कि दो गन्ध, छह रस, दो सामान्य, बहुत विशेष, एक समवाय इत्यादि जो गुणादिकमें संख्याकी प्रतीति होती है वह केवल औपचारिक है क्योंकि उपचारसे ही गुणादिकमें संख्या स्वीकार की गई है, तो उनमें 'पृथक्त्व गुण भी उपचारसे स्वीकार करिए और उस दशामें अपृथक्त्व उनमें वास्तविक मानना पड़ेगा, जो वैशेषिकोंके लिये अनिष्ट है। अतः यदि पृथक्त्वको उनमें

वास्तविक मानें तो संख्याको भी गुणादिमें वास्तविक ही मानें। और तब उनमें एक तादात्म्य सम्बन्ध ही सिद्ध होता है—समवाय नहीं। अतएव गुणादिकको गुणी आदिसे कथंचित् अभिन्न स्वीकार करना चाहिए।

ब्रह्मदूषणसिद्धि

ब्रह्माद्वैतवादियों द्वारा कल्पित ब्रह्म और अविद्या न तो स्वतः प्रतीत होते हैं, अन्यथा विवाद ही न होता, और न प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंसे; क्योंकि द्वैतकी सिद्धिका प्रसंग आता है। दूसरे, भेदको मिथ्या और अभेदको सम्यक् बतलाना युक्तिसंगत नहीं है। कारण, भेद और अभेद दोनों रूप ही वस्तु प्रमाणसे प्रतीत होती है। अतः ब्रह्मवाद ग्राह्य नहीं है।

अन्तिम उपलब्ध खण्डित प्रकरण

शंका—भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध होनेसे वे दोनों एक जगह नहीं बन सकते हैं, अतः उनका प्रतिपादक स्याद्वाद भी ग्राह्य नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे वे दोनों एक जगह प्रतिपादित हैं—पर्यायोंकी अपेक्षा भेद और द्रव्यकी अपेक्षा अभेद बतलाया गया है और इस तरह उनमें कोई विरोध नहीं है। एक ही रूपादिक्षणको जैसे बौद्ध पूर्व क्षणकी अपेक्षा कारण और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कार्य दोनों स्वीकार करते हैं और इसमें वे कोई विरोध नहीं मानते। उसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिए। अन्यापोहकृत उक्त भेद माननेमें सांकर्यादि दोष आते हैं। अतः स्याद्वाद वस्तुका सम्यक् व्यवस्थापक होनेसे सभीके द्वारा उपादेय एवं आदरणीय है।

— — —

विषय-सूची

(शेषांश पृ० २६ पर देखिए)

समन्तभद्राय नमः

श्रीमद्वादीभसिंहसूरि-विरचिता

स्याद्वाद-सिद्धिः

[१. जीव-सिद्धिः]

[नमः श्रीवर्द्धमा]नाय स्वामिने विश्व-वेदिने ।
नित्यानन्द-स्वभावाय भक्त-सारूप्य-दायिने ॥१॥

सर्वे[1] सौख्यार्थितायां[2] च [3]तदुपाय-पराङ्मुखाः ।
तदुपायं ततो वक्ष्ये न हि कार्यमहेतुकम् ॥२॥

यद्यहेतुकमेवेदं[4] क्वचित्कस्यचिदेव किम् ?
सर्वेषामपि किं न स्यात्सौ[ख्यं वा दुःखमेव वा] ॥३॥

नैतत्कफादिकार्यं स्यात्तद्वतामप्यतद्दृशेः ।
नापि कान्तादिसम्पर्कात्[5] कान्ता हि क्वचिदन्तकः ॥४॥

कुतस्सर्वाङ्ग-सौम्येऽपि केनचित्कश्चिदूह्यते ।
मह्यते कोऽपि पथ्यादिर्भक्षकैरपि रक्षितः ॥५॥

[6]धर्माऽधर्मौ ततो हेतू सूचितौ सुख-दुःखयोः ।
पितुः [कारणसत्त्वेन पुत्र]वानानुमीयते ॥६॥

---

१ प्राणिनः । २ सौख्यस्यार्थिनस्तेषां भावः सौख्यार्थिता तस्यां सौख्यार्थितायां वर्तमानाः सन्ति सौख्यमिच्छन्तीति भावः । ३ सौख्योपायरहिताः । ४ सौख्यरूपं कार्यम् । ५ सौख्यं स्यात् । ६ 'धर्माधर्मौ स्तः प्राणिनां सुख-दुःखान्यथानुपपत्तेः' इत्यनुमानमत्र द्रष्टव्यम् ।

परोक्त्यैवाऽनुमेष्टा चेत्, स्वोक्त्या सा नेष्यत:(ष्टिता) कुत: ?
व्यभिचारेण तन्नेष्या, नाऽध्यक्षं चाविशेषत: ॥७॥

निर्बाधं तत्प्रमाणं चेत्, अनुमाऽप्यस्तु तादृशी ।
पितामहानुमानं हि निर्बाधत्वेन सम्मतम् ॥८॥

धर्मादि-कार्य-सिद्धेश्च तत्कर्त्ताऽऽत्माऽपि सिद्ध्यति ।
[कार्यं हि] कर्तृ-सापेक्षं तद्धर्मादि सुखावहम् ॥९॥

'तत्कर्ताऽऽत्माऽस्ति, सौख्यादेरन्यथानुपपत्तित: ।'
इत्यर्थापत्तित: सिद्ध्येत्स आत्मा परलोक-भाक् ॥१०॥

न हि सौख्यादिकार्यस्य धर्मादेरिह दर्शनम् ।
तत्तत्कर्त्ता भवेत्प्राक् च पश्चाच्चेत्तस्य नित्यता ॥११॥

तत्त्वान्तरं सदा चित्, सु-सदहेतुक-भावत: ।
पृ[थिव्यादिभ्य इ]त्येवमनुमाऽप्यस्य साधनम् ॥१२॥

चिदस्तित्वे विवादो न चार्वाकस्याऽपि, तेन च ।
भूत-संहृति-कार्यस्य ज्ञानरूपस्य कल्पनात् ॥१३॥

नेयं कायस्य कार्यं स्यादात्मज्ञेनाऽप्यतद्ग्रहात् ।
गृह्यते हि घटादिकैर्विकार्यपि मृदादिकम् ॥१४॥

स्वसंवेदनात्तजाभ्यां हि नीय[मानत्वमे]नयो: ।
प्रतीति-भिन्न-मानाभ्यां नैवं कारण-कार्ययो: ॥१५॥

भूतसंहृति-कार्यत्वं तन्न ज्ञानात्मकाऽऽत्मन: ।
इत्यहेतुकता-सिद्धेर्हेतोर्नासिद्धिदूषणम् ॥१६॥
अविनाभाविताऽप्यस्य व्यभिचाराद्यभावत: ।
कादाचित्कं न दृष्टं हि किञ्चिच्च सदहेतुकम् ॥१७॥
ज्ञानं [कायस्वभाव.] स्यात्तन्न तत्त्वान्तरं तत: ।
प्रतिज्ञार्थैकदेश: (शोऽ)स्यात्सि (सि)द्धिरित्यपि दुर्मतम् ॥१८॥

नैतत्कायस्वभावः स्याद्भिन्न-पर्याय-दर्शनात् ।
न हि बाल्यादिवत्कायाद्रागादेरपि सम्भवः ॥१९॥

भिन्न-पर्याय-वत्त्वं हि स्वभावस्य न युज्जते ।
तद्वत्त्वे हि स्वभावित्वं तत्तत्त्वान्तरमे[व तत्] ॥२०॥

[पि]मो(ष्टो)दक-गुडादिभ्यो जाता द्रव्यान्तरं सुरा ।
न स्वभावस्ततोऽस्याः स्याद्भिन्न-पर्यायिताऽपि च ॥२१॥

ततस्तत्त्वान्तरत्वे चाकार्यत्वेऽपि च देहिनः ।
भूतवन्नित्यताऽपि स्यात्सदहेतुकाता-स्थितेः ॥२२॥

एवं स्यात्परलोकोऽपि नास्तिको नास्तु तर्कवान् ।
बाधानाहिदे(धाऽनासादि)[तः स हि] विपरीतधियो हि सा ॥२३॥

सत्येवाऽऽत्मनि धर्मे च सौख्योपाये सुखार्थिभिः ।
धर्म एव सदा कार्यो न हि कार्यमकारणे ॥२४॥

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरि विरचितायां स्याद्वादसिद्धौ
चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः ॥१॥

[२. फलभोक्तृत्वाभाव-सिद्धिः]

क्षणिकैकान्तपक्षे तु धर्मो [न स्यात्फलात्य]यात् ।
धर्मकर्तुः क्षणध्वंसान्न हि स्वर्गादि-भागयम् ॥१॥

कार्य कारण-सन्तानात्कर्तुरेव फलं यदि ।
अस्तु वा तत्फलं कर्त्रा लब्धं स्यात्किं नु नैव वा ॥२॥

नैव चेत्तत्फलाभावः स्याद्बौद्धैरपि सम्मतः ।
लब्धं चेन्नित्यता कर्तुर्यावत्फलमवस्थितेः ॥३॥

कृ[तस्य कर्त्रा धर्म]स्य कर्त्रा लब्धं हि नापरैः ।
अस्मिन्मृतेऽन्यलब्धं तु तेन लब्धं कथं भवेत् ॥४॥

पुत्रादिलब्धं तल्लब्धमिति वागेव नार्थवत् ।
अन्यथा पुत्रभुक्त्येव भुक्तवानस्तु तत्पिता ॥५॥

व्यवहारेण संवृत्या वा लब्धं तेन चेन्मतम् ।
संवृति-व्यवहाराभ्यां को नामा[र्थो विवक्षि]तः ॥६॥

धर्मकर्त्रा फलं लब्धमित्यर्थः किं विवक्षितः ।
नैवेत्यर्थोऽथवा लब्धं कथञ्चिदिति वा भवेत् ॥७॥

पूर्वपक्ष-द्वयेऽप्युक्तं दूषणं, स्व-मत-क्षयात् ।
नेष्टस्तृतीयपक्षोऽपि, तयोरर्थोऽपि नापरः ॥८॥

किञ्च, कर्त्रा फलं लब्धं न वा किमिति [कथ्यताम्] ।
[अ]साद्यः फलमस्तीति वाद्यप्रस्तुतसाधनात् ॥९॥

नास्ति कर्त्रेति चेत्कर्तुः फलाभावोऽभिसम्मतः ।
फलाभावेऽपि धर्मोक्तेः सम्मता च स्ववञ्चना ॥१०॥

एकत्व-विभ्रमाद्देही कर्तुरेव फलं वदेत् ।
नैवं योगीति चेदेवमपि स्यात्सोऽपि वञ्चकः ॥११॥

[न धर्मे] एक एवायं तत्फली च तदा वदेत् ।
धर्मोऽकार्यः फलाभावात् कर्तुरित्येव नान्यथा ॥१२॥

किञ्चात्र फलसद्भावात्कर्त्रा लब्धं फलं यदि ।
अप्य(न्य)संसार(रि)मात्रेण मुक्तस्याप्यस्तु संवृतिः (तेः) ॥ ३॥

यत्कार्यं येन सञ्जातं फलं तस्यैव तत्ततः ।
संसार(रि)[जना] नामेव फलं मुक्तस्य नेत्यसत् ॥१४॥

फलकृत्वेऽपि तत्कर्त्रा न तु लब्धं हि तत्फलम् ।
तदापि लब्धमित्युक्तौ मुक्तेनापीति कथ्यताम् ॥१५॥

मुक्तान्ययोः फलाद्भेदे विनाशे चाविशेषतः ।
विशेषश्चेत्कथंचित्तौ देहिनोऽन्यस्य सर्वथा ॥१६॥

विशेषः स्यादुपादानोपादेय[ः खलु जा]तु न ।
मुक्त-संसारिणोस्तस्मान्नोक्तं दूषणमित्यसत् ॥१७॥

स विशेषो यतः कर्त्रा लब्धं स्यात्फलमीदृशम् ।
विशेषस्थायिता सा तु नेष्टाऽन्यैः किं विशेषकैः ॥१८॥

किञ्च न स्यादुपादानमथोऽन्यन्मेति सर्वथा ।
क्षणानां भेद-नाशित्वसाम्या त(त्त)त्सन्ततिश्च नः (न) ॥१९॥

[क्षणानामेकचित्तानां]स्यात्सादृश्यं देश-कालजम् ।
नैरन्तर्यं तथासत्तोपलम्भश्चैककार्यता ॥२०॥

इति चेन्निरंशवादेन सादृश्यमथवाऽस्ति चेत् ।
जनकात्मजयोश्च स्याज्ज्ञानत्वेनापि साम्यतः ॥२१॥

देशकालो(लौ) न बौद्धानां नैरन्तर्यं ततः कुतः ।
तथासत्तोपलम्भस्तन्नै[रन्तर्यं तु न भवेत्] ॥२२॥

न च कल्पितदेशादिनैरन्तर्यं तु कार्यकृत् ।
अथेष्टं कार्यकृत्तच्च भवेद्वास्तवमेव तत् ॥२३॥

न ह्यवास्तवतः कार्यं कल्पिताग्नेश्च दाहवत् ।
न हि मिथ्याऽहि-दंशात्सा मृतिः किन्तु महाभयात् ॥२४॥

एककार्यविधायित्वं [नैरन्तर्यं च न भवेत्] ।
[ ]त्युद्धरणादौ स्यादेकसन्तानता न किम् ॥२५॥

यत्र सोऽहमिति ज्ञानमुपादानान्यरूपकः ।
सन्तानोऽत्रैव चेदस्तु तज्ज्ञानं च क्वचित्कुतः ॥२६॥

एकत्ववासनातश्चेत्सा हि तज्ज्ञानसम्भवात् ।
तज्ज्ञानाविषये न स्यादित्यन्योन्यसमाश्रयः ॥२७॥

क्वचि[द्वासना-सद्भावे क] च्चित्तज्ज्ञानसम्भवः ।
तत्सम्भवे क्वचिद्भावो वासनाया इति स्फुटम् ॥२८॥
वासनांता (नातो) न तज्ज्ञानं सन्तानादिति चेन्न न ।
तज्ज्ञाने हि क्वचिज्जाते सन्तानस्तत्र तत्क्वचित् ॥२९॥
तज्ज्ञानस्य क्वचिद् दृष्टे नान्योन्याश्रयदूषणम् ।
इति चेद् दृष्टमिष्टं [हि चान्योन्याश्रय]दूषणम् ॥३०॥
बीजाङ्कुरादिवत्सः स्यात्प्रबन्धोऽनादिरित्यसत् ।
स्याद्भेदोऽत्र चास्तीति न दृष्टान्तोऽन्यवादिनाम् ॥३१॥
कार्य-कारण-मात्रेण सन्तानस्य प्रकल्पनम् ।
जनकात्मजयोश्च स्याद् बुद्ध-संसारिणोरपि ॥३२॥
कार्य-कारणरूपत्वमस्त्येव हि तयोरपि ।
देहिनां बुद्धवेदित्वात्ते कार्यं स हि कारणम् ॥३३॥
विषयोऽकारणं नेति बौद्धानां ह्यभिवाञ्छितः ।
सादृश्यादेरसत्त्वं चेद्दत्तमत्र सदुत्तरम् ॥३४॥
यथैकार्थक्रिया-हेतुः सन्तानस्तौ तथा न चेत् ।
तयोः सन्तानतायां किं तत्क्रियाऽत्र न सम्भवेत् ॥३५॥
कार्य-कारण-रूपत्वेऽप्यनयोः सन्ततिर्न चेत् ।
सन्तानाभाव एव स्यान्निमित्तान्तर-हानितः ॥३६॥
सन्तानत्व-निमित्तं हि कार्य-कारण-मात्रकम् ।
तस्मिन्नपि न तत्त्वं चेत्तत्किमन्यत्र सम्भवेत् ॥३७॥
स्याद्धि लक्षणयुक्तेऽपि बाधे लक्षणदूषणम् ।
तन्न स्यात्सन्ततिः क्वापि भेद-नाशित्व-साम्यतः ॥३८॥
तस्यां चेत्तदसाम्यं स्याद्भवेत्स्यान्नाशि-भिन्नता ।
न हि स्वस्य स्वतोऽसाम्यं साम्यासाम्यं हि भेदिनोः ॥३९॥

तद्वेषे (द्भेदे)ऽप्येकसन्तानात्तैवासि(र्वा सि)द्ध्यत्तयोरपि ।
कार्यकारणमात्रत्वं तन्निमित्तं यतस्तयोः ॥ ४० ॥

तत्सिद्धौ मुक्तकार्यत्वात्संसृतेर्मुक्तिरस्थिरा ।
तदसिद्धौ च सन्ताने कथञ्चिद्भेद-नाशिता ॥ ४१ ॥

उपादानादुपादेये तद्भेदादिः स दृश्यते ।
अहमेव युवा जातो बाल्यं त्यक्ते(क्त्वे)ति बोधतः ॥ ४२ ॥

प्रत्यभिज्ञाख्यबोधोऽयं स बोधो यदि सर्वदा ।
निक्षिप्तचीवरादायी तस्करोऽसत्यवागपि ॥ ४३ ॥

ततः कथञ्चिन्नाशित्वे कर्त्रा लब्धं फलं भवेत् ।
तन्नाशो नेष्यते तस्माद्धर्मोऽकार्योऽस्तु सौगतैः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरि-विरचितायां स्याद्वादसिद्धौ बौद्धवादिनं प्रति स्याद्वादानभ्युपगमे धर्मकर्तुः फलभोक्तृत्वाभाव-सिद्धिः ॥२॥

[३. युगपदनेकान्त-सिद्धिः]

युगपत्क्रमतो वस्तु वास्तव्यानेकधर्मकम् ।
सन्ताना(न)व्यवहारादेरन्यथानुपपत्तितः ॥ १ ॥

कार्यकारणरूपं [तत्] चित्तमेकं हि सन्ततौ ।
नो चेत्पूर्वापरापेक्षं तद्रूपं तत्र सा कुतः ? ॥ २ ॥

कार्यादिधर्मभेदः स्याद्व्यावृत्त्येति न युक्तिमत् ।
तस्याभावादभिन्नत्वान्न नानात्वसम्भवः ॥ ३ ॥

अयुक्त्यतिप्रसङ्गाभ्यां सर्वशून्यत्वसम्भवात् ।
धर्मभेदानुपायश्च नापोहान् (द्) धर्मभेदधीः ॥ ४ ॥

नाध्यक्षमिह युक्तिः स्याद्वस्तुन्येवाऽस्य[1] सम्भवात् ।
अवस्तुन्यप्यपोहे चेत्कल्पनात्वान्न तत्प्रमा ॥ ५ ॥

विकल्पापोहसामान्यगृहीतावासनोद्भवः ।
वस्तुन्यभेदसादृश्यकल्पनात्मेति पोषणात् ॥ ६ ॥

युक्तिश्चेदनुमानो (माऽन्यो)ऽन्यसंश्रयः सा हि सिद्ध्यति ।
अपोहसिद्धसाध्यादिधर्मभेदं तयैव सः ॥ ७ ॥

विकल्पो नाऽत्र युक्तिः स्याद्बाह्ये सत्येव न ह्ययम् ।
वर्तते यदि वर्तेत किं न प्रत्ययवत्प्रमा ॥ ८ ॥

बाह्यत्व-विद्यमानत्वव्यतिरिक्तान्वितत्वतः ।
व्यतिरिक्तेऽपि तद्रूपविदेव हि विकल्पधीः ॥ ९ ॥

तया सिद्धादपोहाच्च धर्मभेदो न वस्तुषु ।
तस्य वस्तुष्वसद्भावात्कल्पनारोपितात्मनः ॥ १० ॥

एकत्वाध्यवसायाच्चेदस्तु वस्तुषु सम्भवः ।
नैकत्वस्याऽप्यसद्भावात्तेष्वारोपितरूपिणः ॥ ११ ॥

तस्याऽप्येकत्व-निर्णीतेरन्यतस्तत्र सम्भवे ।
अनवस्था ततो युक्तिरपोहेन विकल्पधीः ॥ १२ ॥

किञ्चैकत्वसमारोपाद्धर्मभेदेऽपि वास्तवे ।
किन्नारोपितवह्नित्वाद्दाहो माणवकादपि ॥ १३ ॥

किञ्च प्रत्यक्षमन्यद्वा नैकत्वाध्यवसायकृत् ।
सत्येतरार्थयोर्वृत्तिः प्रत्यक्षादेर्न हीष्यते ॥ १४ ॥

प्रत्यक्षं खलु सत्ये स्यादसत्येऽर्थेऽनुमादिकम् ।
न चैकार्थविदा शक्यं द्विष्ठमेकत्वकल्पनम् ॥ १५ ॥

---

१ प्रत्यक्षस्य ।

अपोहः कल्पनात्माऽयं न भवेदपि वस्तुषु ।
भवेद्वस्तुगतापोहो वस्तुसाङ्कर्यमन्यथा ॥ १६ ॥

ततोऽयं धर्मभेदश्चेद्वस्तु-तद्भेद-विद्विषाम् ।
तदपोहेऽप्यवस्तुत्वमेवं चातिप्रसञ्जनम् ॥ १७ ॥

खण्डादाविव चान्यत्र गुल्मादावपि सम्भवेत् ।
कर्काद्यपोह एवं स्यात्तत्र गोव्यपदेशभाक् ॥ १८ ॥

खण्डादावपि तेनैव गोशब्दस्य प्रवर्तनात् ।
एवं गामानयेत्युक्तौ गुल्मादेरपि तद्भवेत् ॥ १६ ॥

अगोनिवृत्तिर्गौरेवं तत्सङ्केतकृतेस्ततः ।
गुल्मादेरप्यगोत्वेन न गोत्वमिति चेदसत् ॥ २० ॥

अगोत्वं खलु गुल्मादेः खण्डादौ गोत्व-सिद्धितः ।
सा च गुल्माद्यगोत्वे स्यादित्यन्योन्यसमाश्रयात् ॥ २१ ॥

वाह-दोहादिकार्यस्य खण्डादावेव सम्भवात् ।
तत्र तद्व्यपदेशः स्यान्नान्यत्रेति न युक्तिमत् ॥ २२ ॥

तत्कार्यस्यापि तत्रैव गुल्मादावपि सम्भवेत् ।
तदपोहकृतं कार्यं तस्मिन् सति कुतः क्वचित् ॥ २३ ॥

शक्तिसाम्यं हि खण्डादौ तत्तत्कार्यमिहैव चेत् ।
गोत्वं चात्र त[दापि स्याद]पोह इति सुस्थितम् ॥ २४ ॥

तदपोहेऽपि गुल्मादौ तत्कार्यानुपलम्भतः ।
खण्डादिसदृशत्वेन गुल्मादेश्चाप्रतीतितः ॥ २५ ॥

किञ्चैकत्वसमारोपः पूर्वापरघटक्षणे ।
सादृश्यादेव बौद्धानां तत्रापोहस्तथा सति ॥ २६ ॥

कपालघटयोश्च स्यात्सादृश्य[मविशेषतः] ।
घटाद्यपोहस्तद्धेतुः घट-वर्धितयोरपि ॥ २७ ॥

नापोहमात्रं तद्धेतुस्तद्विशेषः स नेह चेत् ।
किमवस्तुन्यपोहे स्याद्विशेषो वस्तुसम्भवः ॥ २८ ॥

तत्तयोरपि सादृश्यं भवत्येव ततो भवेत् ।
तत्रैकमिति धीर्यद्वत्पूर्वापरघटक्षणे ॥ २९ ॥

एकार्थक.................................रयम् ।
नास्त्येकत्वसमारोप इत्युक्तिः प्राङ्निरूपिता ॥ ३० ॥

किञ्च कर्काद्यपोहश्चेदसमः खण्ड-मुण्डयोः ।
समानप्रत्ययो नास्मात्समश्चेत्स्वमतच्युतिः ॥३१॥

ततोऽसङ्करभावेन वस्तुनः प्रतिपत्तये ।
तिर्यगूर्ध्वगसामान्यात् [समानप्रत्ययो भवेत्] ॥ ३२ ॥

व्यावृत्त्यैकस्वभावत्वे सा स्वतोऽपीति शून्यता ।
स्वस्वरूपादि यन्नो चेन्न भवेत्तत्स्वभावता ॥३३॥

व्यावृत्ति(त्ती)नां स्वतो भेदे भवेत्तासां च वस्तुता ।
न ह्यवस्तुनि नीरूपे स्वस्वरूपेण भिन्नता ॥३४॥

ततो नानात्मकं वस्तु व्यावर्त्या त(त्त ?)द्भिदेति चेत् ।
.........................नित्यादेः स्यात्ततोऽभिदा ॥ ३५ ॥

नित्यादेः कल्पितत्वं चेत्स्यादन्योन्यसमाश्रयः ।
नित्यादौ सत्यनित्यादिः तस्मिन्नित्यादिरित्ययम् ॥३६॥

बुद्धौ भेदावभासेन नित्यादेश्चेद्भिदा तथा ।
अन्यत्राऽपीति तद्भेदो न स्याद्व्यावर्त(र्त्य)भेदतः ॥ ३७ ॥

व्यावर्ता(र्त्या)त्तद्भिदा [भेदश्चिदचि]द्वस्तुव्यवस्थितिः ।
अचिदेव हि चिच्च स्याद्व्यावृत्तेश्चेतनान्तरात् ॥ ३८ ॥

अचिदन्या चिदित्येवमादौ सच्चेतितं ततः ।
चिदन्तरं च चिच्चेत्स्यादत्राऽप्यन्योन्यसंश्रयः ॥ ३९ ॥

बुद्धौ भेदावभासेन व्यावृत्तेश्चेद्भिदा तदा ।
शब्दत्वादेश्च भेदः स्याद्बुद्धौ बोधावभासतः ॥ ४० ॥
[भेदाभेदाभि]धायित्वाच्छब्दशब्दत्वशब्दयोः ।
भेदावभासनं चास्ति नो चेत्पर्यायशब्दता ॥ ४१ ॥
भेदावभासने न स्यात्प्रतिज्ञार्थैकदेशता ।
शब्दत्वस्येति चेत्तच्च स्यादनित्यत्वसाधनम् ॥ ४२ ॥
धीभेदेऽपि न तद्भेदो व्यवच्छेद्याभिदत्ययात् ।
अशब्दो हि व्यवच्छेद्यः शब्दशब्दत्वयोर्द्वयोः ॥ ४३ ॥
......................शत्वं ततः स्यादिति चेत्तथा ।
कृतकत्वं न हेतुः स्याद्व्यवच्छेद्यं हि नाऽस्य च ॥ ४४ ॥
अकृतस्यानभीष्टत्वात्तच्चेत्कल्पितमिष्यते ।
कल्पनाऽन्यत्र किं न स्यात्तत्तत्साधन भवेत् ॥ ४५ ॥
व्यावृत्तेश्चेत्समारोपभेदाद्भेदस्तदा कथम् ।
सत्त्वस्यात्र हि नारोपः स चेत्सत्त्वस्य साध्यता ॥ ४६ ॥
[न सत्त्वस्या] पि चेदत्र दोषान्योद्घोषणं कथम् ।
तन्न व्यावृत्तिभेदः स्याद्व्यावर्त्याद्वै स्वतोऽपि च ॥ ४७ ॥
व्यावृत्त्या धर्मभेदोऽपि वास्तवः किमवास्तवः ।
पूर्वश्चेत्स्यादनेकान्तः परश्चेत्सन्ततिः कथम् ॥ ४८ ॥
पूर्वापरक्षणापेक्षकार्यकारणरूपयोः ।
क्वचित्क्षणे निरंशेऽपि वास्तवत्वे [तयोश्च हि] ॥ ४९ ॥
चित्तं कारणमेवाऽस्मिन्नान्या कारणतेति चेत् ।
कुशलाकुशलत्वं च न चित्ते दातृ-हिंस्रयोः ॥ ५० ॥
तथा च दातुः स्वर्गः स्यान्नरको हन्तुरित्ययम् ।
नियमो न भवेत्किं नु विपर्यासोऽपि सम्भवेत् ॥ ५१ ॥

दानादिसहकृद्युक्ता चेत्ता चायं न तस्य तैः ।
नो चेदतिशयो धा(याधा)[नं कथं स्याद्दा]निता च तत् ॥५२॥

विनाऽप्यतिशयाधानं चित्तात्तत्सहितादयम् ।
नियमश्चेत्तथा किं न नित्यादर्थक्रिया भवेत् ॥ ५३ ॥

प्रकृत्या नियमोऽयं चेच्चिच्चैवं भूत-संहतेः ।
प्रकृत्यैव विजातीयकार्यस्यापि हि सम्भवः ॥ ५४ ॥

स्वालक्षण्यातिरिक्तं चेच्चिदचित्वं स्वलक्षणे ।
[भूतिसंहतिर]त्र स्यादन्यथा सा हि शब्दतः ॥ ५५ ॥

व्यावृत्त्या चिदचित्वं च वास्तवं किमवास्तवम् ।
पूर्वं चेत्स्यादनेकान्तः परं चेदुभयं समम् ॥ ५६ ॥

तथा स्याच्चेदुपादानमचिच्चेत मतान्तरम् ।
ततश्चिच्चित एव स्यादित्ययं नियमोऽपि न ॥ ५७ ॥

दातुरेव ततः स्वर्गो [नास्याप्यस्ति नि]यामकम् ।
न व्यावृत्त्यादिनाऽप्येष नियमो मानगोचरः ॥ ५८ ॥

न हि संसारिणां मानान्नियमे(मो) दृश्यतेऽधुना ।
बौद्धागमस्तु मानं न मान-द्वैविध्य-हानितः ॥ ५९ ॥

अनुमानात्मकः सोऽपि मानं चेल्लिङ्गमात्रकम् ।
न हि तन्नियमे किंचिदविनाभावि [साधनम्] ॥ ६० ॥

अनुमानं तु लिङ्गार्थं तल्लिङ्गं च त्रिधा मतम् ।
कार्यलिङ्गं तु नाऽत्रास्ति कार्यस्यैवाविनिश्चयात् ॥ ६१ ॥

कार्यकारणयोर्यस्मान्नैरंश्ये नियतिक्षयः ।
भावस्यैवाऽत्र साध्यत्वात्तन्न चानुपलम्भनम् ॥ ६२ ॥

स्वभावाख्यं च वस्तुत्वे साध्यसाधन[धर्मयोः] ।
व्यावृत्त्या तदयुक्तत्वात्तथा चैकमनेकधा ॥ ६३ ॥

किञ्च व्याप्तिग्रहोऽध्यक्षात्साध्यसाधनधर्मयोः ।
ग्रहणादेव तन्निष्ठा न हि ग्राह्या तदग्रहे ॥ ६४ ॥
स्वालक्षण्यमिवामिथ्याधर्मभेदोऽक्षजग्रहात् ।
व्याप्तिश्चेदनुमा-ग्राह्या न स्थितिर्नापरा प्रमा ॥ ६५ ॥
[न वा स्म]रणशक्तेः स्यान्नियमोऽयं न चान्यथा ।
व्यावृत्त्यादेरहेतुत्वान्नियमे च प्रमात्ययात् ॥ ६६ ॥
कार्यत्वमपि चित्ते स्याद्वास्तवं यद्यवास्तवम् ।
कारणत्वं च मिथ्या स्यात्कार्यापेक्षं हि कारणम् ॥ ६७ ॥
एवं सत्त्वमनित्यत्वमपि चित्तेऽस्तु वास्तवम् ।
नान्यथा [चेतनं यस्मा] दवस्तुत्वात्स्वलक्षणम् ॥ ६८ ॥
भेदश्चेत्कारणत्वादेश्चित्तात्स्यात्सर्वथा तदा ।
कारणत्वादिकं किंचिदन्यद्रूपाद्रसादिवत् ॥ ६९ ॥
अभेदैकत्वमेव स्यान्न च पक्षान्तरं कथम् ।
पक्षद्वयेऽपि लभ्यं स्याच्चित्ते कारणतादिकम् ॥ ७० ॥
इत्यादिचोद्यमप्यत्र बौद्धैश्च द्वेष्य[कारणम्] ।
[चोद्य]स्याकारणत्वेन किं न तन्नियमक्षयः ॥ ७१ ॥
तत्क्षयेऽपि वृथा दानं हन्ताऽपि स्वर्गभाग्यतः ।
ततो गत्यन्तराभावात्स्याद्भेदाभेद इष्यताम् ॥ ७२ ॥
चित्तं कारणमित्यस्ति प्रतीतिश्च तथा ग्रहात् ।
भेदाभेदप्रतीतिश्च नान्या सम्बन्धदूषणात् ॥ ७३ ॥
[भेदाभेदात्मको बोध]स्तैरेवात्रेष्टमन्यथा ।
नियम-ध्वंसनादेवं वस्त्वनेकात्मकं सकृत् ॥ ७४ ॥

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरि-विरचितायां स्याद्वादसिद्धौ क्षणिकवादिनं प्रति युगपदनेकान्त-सिद्धिः ॥ ३ ॥

[४. क्रमानेकान्त-सिद्धिः]

पूर्वापरेषु चित्तेषु नैकत्वं चेत्तदा कथम् ।
सन्ता[नो हि भवेत्तत्र ततः] कर्तुः फलात्ययः ॥ १ ॥

कारणान्यत्वतोऽयं चेज्जनकात्मजयोर्भवेत् ।
उपादानान्यभावाच्चेत्स च किं न तयोरपि ॥ २ ॥

सर्वथाऽन्योन्यभिन्नानां चित्तानामेव सम्भवत् ।
तद्भावः स तयोश्च स्यात्स्यादभेदे हि जैनता ॥ ३ ॥

सादृश्यभावतस्तत्र तद्भावो यदि ने[ष्यते] ।
[तद्भावो न तदा तत्र सा]दृश्ये हि विनश्यति ॥ ४ ॥

देश-कालकृतं तत्र नैरन्तर्यं न चेदसत् ।
न हि स्वलक्षणाद्भिन्नो देशादिः सौगते मते ॥ ५ ॥

तस्मादेकान्त-भेदेऽपि कार्य-कारणरूपतः ।
तयोस्तद्भावसिद्धयै स्यादेकसन्तानताऽपि च ॥ ६ ॥

यत्र सत्त्वोपलम्भः स्यात्सन्तानस्तत्र चेद[सत्] ।
.... नैरन्तर्यादिना परः ॥ ७ ॥

किं चाभिमत-सन्ताने सादृश्यादेश्च सम्भवः ।
कार्य-कारणभावाभ्यामेव स्यात्स तयोर्न किम् ॥ ८ ॥

सोऽहमित्येकविज्ञानादेकसन्तानतेष्यते ।
तज्ज्ञानं तु तयोर्नास्ति पृथगेव तदीक्षणात् ॥ ९ ॥

इति चेत्सर्वथा भेदे कार्यान्यत्वे [तयोरपि] ।
[तज्ज्ञानं न भवे]त्कस्माद्यतो नियतसन्ततिः ॥ १० ॥

एकत्व-वासना-दार्ढ्या न(न्न) तज्ज्ञानं क्वचिद्भवेत् ।
क्वाचित्के सति तज्ज्ञाने सा स्यात्तस्यां हि तत्क्वचित् ॥ ११ ॥

प्रकृत्यैवेति चेदेवं भेदाभावेऽपि भेदधीः।
अभेदधीवदेव स्यात्प्रकृत्येति मतान्तरम् ॥ १२ ॥

भेदोऽस्ति चेद्बाधत्वात्तत [अभेदोऽपि कथ्यताम्]।
[ना]पि विरोधतश्चेत्स्यान्न स्यात्सन्तानकल्पना ॥ १३ ॥

तस्मात्सन्तान इष्टश्चेद्भेदाभेदात्मकश्च सः।
अभेदश्चैकतैवेति कश्चि(चि ?)त्तेष्वेकता स्थिता ॥ १४ ॥

एकत्वं कल्पितादेव सादृश्यादेः क्षणेषु न।
कल्पनानुपपत्तेश्च कल्पनाहेत्वभावतः ॥ १५ ॥

निरंशः कल्पको न स्यात्तेनैकस्यैव वेदनात्।
[इदं सम]मनेनेति वेदनं हि द्विवेदिनः ॥ १६ ॥

निरंशाद्वि(द्वि) ग्रहे नानास्वभावान्न निरंशता।
नरोन्मुख-स्वभावेन ज्ञातोऽश्वो हि नरो भवेत् ॥ १७ ॥

एकस्वभावतोऽनेकवित्तिश्चेत्तत्स्वभावतः।
नानाकार्यं प्रधानात्स्यात्तन्न तेन द्वि-वेदनम् ॥ १८ ॥

यस्तवाकेन(विकैक ?) रूपश्चेत्कल्पक(:)स्व-मत-क्षयः।
[अथ चाने]करूपश्चेत्कल्पकान्तरतोऽस्थितिः ॥ १९ ॥

तद्धेतुरपि नाऽपोहस्तस्य पूर्वं निषेधनात्।
अर्थैककार्यकारित्वं तद्धेतुश्चेत्तदप्यसत् ॥ २० ॥

यथा गो-व्यपदेशो(शः) स्यादेक-कार्य-विधानतः।
खण्डादिश्चक्षुरादिश्च स्याद्रूप-व्यपदेशभाक् ॥ २१ ॥

रूपमित्येकविज्ञानं तस्मादपि [हि जायते]।
[तदे]वं व्यपदेशोऽत्र तत्कारित्वं च तन्न सः ॥ २२ ॥

किञ्च क्षणिकतः कार्यं सद्भवेदसदेव वा।
सच्चेन्न कारणापेक्षा वा (ना)सतो हेत्वधीनता ॥ २३ ॥

प्रागसत्सत्पुनश्चेत्स्यात्क्षणिकत्वं विनश्यति ।
पौर्वापर्ये हि सत्येव वस्तुनस्तद्द्वयं भवेत् ।। २४ ।।

नैवं स्याद्वादिनां दोषः [सदसद्द्रव्यभा]वतः ।
व्यक्त्यात्मना ह्यसत्पूर्वं सद्विपक्षात्तदात्मना ।। २५ ।।

चैत्रैकज्ञानवच्चित्रे क्रमेणाऽपि च वस्तुना(नः) ।
कार्यकारणतेष्टा तैस्तथा निर्बाधबोधतः ।। २६ ।।

व्यक्तिरूपं न चेत्पूर्वं तच्छक्तेरेव भावतः ।
तथाऽप्यनित्यतैव स्यादभेदे शक्ति-तद्वतोः ।। २७ ।।

भेदाभेदेऽप्यभेदस्य स[त्वं हि स्यादनित्य]ता ।
पर्यायस्यैव युक्ता स्याद्भेदैकान्ते हि युक्तता ।। २८ ।।

इति चेन्न तथाऽनिष्टेर्नष्टानष्टत्वदर्शनात् ।
द्रव्य-पर्यायतैकस्य वस्तुनो ह्यत्र सम्मता ।। २९ ।।

नष्टमेव ह्यनष्टं च तथा निर्बाधबोधतः ।
तत्तत्स्थैर्येतरात्मत्वाद्द्रव्य-पर्यायतेष्यते ।। ३० ।।

[द्रव्यपर्यायतै]कस्मिन्न स्यात्तद्धि द्वयोर्यदि ।
द्वित्वं च स्यान्नयोद्धाराद् द्रव्यं पर्याय इत्यतः ।। ३१ ।।

द्रव्याविनाशे पर्याया नाशिनः किं तदात्मकाः ।
नष्टाः पर्यायरूपेण नो चेद्द्रव्य-स्वभावतः ।। ३२ ।।

किमन्यरूपता तेषां न चेन्नाशस्तदा कथम् ।
इत्यादिबौद्धवाङ्मौढ्यादज्ञाते [न विकल्पनम्] ।। ३३ ।।
ततः स्यात्कार्यकारित्वं स्याद्वादे युक्ति-भूषितम् ।
क्षणिकैकान्ते तु नैव स्यादुक्त-दूषण-सम्भवात् ।। ३४ ।।
किञ्च क्षणिकतः कार्ये नानाशक्त्यात्मकं च तत् ।
उपादानं स्वकार्ये हि परत्र सहकार्यपि ।। ३५ ।।

यत्र्युपादानतैव स्यात्सहकृत्वं प[रत्र न] ।
[अन्यै]रभेदतो वस्तु सहकार्यन्यदेव वा ॥ ३६ ॥
रूपादीनां रसादावप्युपादानत्वमेव चेत् ।
नोपादानभिदा किं च कार्याणां स्याच्च सङ्करः ॥ ३७ ॥
यथा रूपमुपादानं रूपस्यैवं रसस्य च ।
तथा चायं रसो न स्याद्रूपोपादानरूपवत् ॥ ३८ ॥
[रसो हि] न भवेदेष रसोपादानभावतः ।
रूपस्येव रसस्यापि सहकृत्वं रसे यदि ॥ ३९ ॥
रसस्याभाव एव स्यात्तदुपादान-हानितः ।
कल्पितं चेदुपादानं कार्यं च स्यादवास्तवम् ॥ ४० ॥
एवं रूपादिकार्येऽपि वक्तव्यं स्यात्तरो(तो) भवेत् ।
एकस्यैव द्विधा शक्तिरूपादा[नान्य-भावतः] ॥ ४१ ॥
तद्द्वयत्वं च रूपादेः स्वान्यकार्यं प्रतीयते ।
रसाद्रूपानुमानं च नान्यथा हि प्रसिद्ध्यति[१] ॥ ४२ ॥
किञ्चैककार्यकारित्वमेकदा यत्तदन्यता(दा) ।
अन्यकार्यविधायित्वं चेति नित्येऽपि युज्यते ॥ ४३ ॥
तद्विना शक्तिभेदेन क्रमेणानेककार्यकृत् ।
नित्यं चेत्यस्य स [त्त्वं च स] त्वं ह्यर्थक्रियाकृतः ॥ ४४ ॥
प्राक्तनोत्तरयोर्नित्ये कार्यकारित्वयोर्यदि ।
अभेदः सर्वथाऽशेषं कार्यं प्रागेव नोत्तरः ॥ ४५ ॥

---

१ एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः ।
हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥
—प्रमाणवार्तिके (१–११) धर्मकीर्तिः ।

इत्यसारं, तथात्वेऽपि कां(का) [लं] चापेक्ष्य कार्यकृत् ।
प्रतिपक्षाभ्युदासेन न च पक्षव्यवस्थितिः ॥ ४६ ॥

तद्द्वयोरप्य [भेदः स्यात्प्राक्तनो] क्तरभावतः ।
किञ्चात्रैकमुपादानं सहकार्येव वा भवेत् ॥ ४७ ॥

रूपाद्यन्यतमं च स्यात्तस्मादेवं च सांशता ।
पूर्वापरत्वमात्रेण नियतेनात्र कल्प्यते ॥ ४८ ॥

कार्यकारणरूपत्वं बीजाङ्कुरवदित्यसत् ।
निरंशे नियमाभावः प्रागेव [प्रतिषेधितः] ॥ ४९ ॥

बीजाङ्कुराद्यसाङ्कर्यं सांशेऽर्थे शक्य शक्तितः ।
हेतोः सकृदनेकान्ते सांशत्वं च समर्थितम् ॥ ५० ॥

न च पूर्वापरीभावनियमे मानमित्यपि ।
एकान्तक्षणिकं वस्तु तन्नास्त्यर्थक्रियाऽत्ययात् ॥ ५१ ॥
क(ख)रशृङ्गवदित्येवं तदेकान्तो निरा[कृतः] ।
.... हानौ व्याप्यक्षणिक-हानितः ॥ ५२ ॥

नित्यवत्तदभावाद्धि नित्याभावोऽपि सम्मतः ।
ततः सन्तान-सादृश्य-साध्य-साधन-तत्क्रियाः ॥ ५३ ॥

तासां च कल्पका बोधा न स्युः क्षणिकवादिनाम् ।
अन्यथानुपपत्त्या च स्मृत्यादेः स्यादभिन्नता ॥ ५४ ॥

न हि [स्यादेकताऽभावे बौद्धानां] स्मरणादिकम् ।
एकसन्तानचित्तेषु पूर्वपूर्वप्रवर्तिते ॥ ५५ ॥

उत्तरस्यैव तद्दृष्टेः स्याद्भेदोऽस्तु [हि] सन्ततौ ।
न स्यात्सन्तत्यभेदेऽपि विस्मृतिश्चेत्स्मृतिः कथम् ॥ ५६ ॥

भेदैकान्ते, ततो युक्तं तद्द्वयं स्यादभेदतः ।
वासनातः स्मृतिश्चेत्साऽनित्ये(त्यै)व स्यान्न चापरा ॥ ५७ ॥

....च्छक्तिरर्थावलोकने ।
स एवाऽयमिति ज्ञानादेकात्मा वास्तवो भवेत् ॥ ५८ ॥
न चेत्तदा समारोपस्तज्ज्ञानात्मा कथं भवेत् ।
क्षणिके क्षणिकज्ञानं प्रत्यभिज्ञात्मकं हि सः ॥ ५९ ॥
स एवाऽयमितीष्टोऽन्यैः सोऽपि नो चेद्वृथा तपः ।
मोक्षो ह्यक्षणिक.......................................यदि ॥६०॥
किं तेन नापि संसारः प्रत्यभिज्ञा-निराकृतौ ।
न चास्याः सर्वदा भ्रान्तिर्विषय-प्राप्ति-दर्शनात् ॥ ६१ ॥
कदाचित्तु तदप्राप्तिरध्यक्षेऽपि हि दृश्यते ।
ततः स्यात्प्रत्यभिज्ञाऽपि समारोपस्य भावतः ॥ ६२ ॥
तस्यामपि प्रमायां स्याद्वास्तवैकात्म-संस्थितिः ।
सं[शय-विपर्यया]देरदृष्टान्तेऽपि सम्भवे(वा)त् ॥ ६३ ॥
अन्यथानुपपन्नत्वात्पक्षे सम्बन्ध-निश्चयः ।
साध्याविनिश्चये कस्मात्तत्त्वस्यापि विनिश्चयः ॥ ६४ ॥
इत्यसत्साधनस्यैव स्वरूपं हीदमञ्जसा ।
विपक्षे बाध-सामर्थ्यात्तर्काच्चास्य विनिश्चयः ॥ ६५ ॥
तर्काच्चे(र्कश्चे)दप्रमा, न स्यादविनाभाव-नि[श्चयः] ।
[तद्व्याप्ते]रनवस्थाना चा(स्थानाच्चा)ध्यक्षादेर्न तद्ग्रहः ॥६६॥
व्याप्त्यैव तद्ग्रहेऽध्यक्षात्तद्वित्स्यान्ननु सर्ववित् ।
अन्यथानुपपन्नत्वान्नाभूद्गमकमन्यथा ॥ ६७ ॥
तथोपपत्त्यनिर्णीतौ तथा तु गमकं मतम् ।
इत्यसत्सर्व(पर्यु)दासोऽत्र निवृत्तिर्न हि केवला ॥ ६८ ॥
तत्तदनुपपत्तेरेवासौ तदुपपन्नता ।
[अन्यथानुपपत्तिर्हि] सा, च हेतौ तदात्मके ॥ ६९ ॥

न बहिर्गमकत्वं हि बहिस्सत इवासतः ।
बहिरन्वयिनो व्याप्तिः साध्येन सुखनिश्चया ॥ ७० ॥
नान्यस्य तत्तयोर्नैव तुल्या गमकतेत्यसत् ।
सा न यस्य च दृष्टान्त एव चेद्व्याप्तिनिश्चयः ॥ ७१ ॥
व्यर्थेयं साध्यनिर्णीतिर्दृष्टान्ते [हि दृष्टान्त]रात् ।
तद्विनिश्चयतस्तत्र साध्यनिर्णीतिकल्पने ॥ ७२ ॥
तद्विनिश्चयतः सा स्यात्तस्याः स इति दूरणात् ।
दृष्टान्तेऽप्यन्यदृष्टान्ते यदि व(त)न्निर्णयस्तदा ॥ ७३ ॥
तत्रापि चान्यतस्तत्राऽप्यन्यतश्चेति न स्थितिः ।
साकल्ये वै(नैव) दृष्टान्ते यदि तन्निर्णयः स वै ॥ ७४ ॥
पक्षेऽप्यवश्यं [खलु स्यात् दृष्टान्ते] न हि सोऽन्यथा ।
तस्मादवश्यंभावित्वादन्तर्व्याप्तिस्तयैव च ॥ ७५ ॥
सान्वये गमकत्वाच्च परत्राऽपि तयैव तत् ।
अन्तरप्यवसायश्चेद्व्याप्तेः स्यादनुमा वृथा ॥ ७६ ॥
तस्मादेव प्रसिद्धत्वात्साध्यस्यापीति चेदसत् ।
द्वय-स्वरूप-ग्रहणे सति सम्बन्ध-वेदनम् ॥ ७७ ॥
इति ब्रुवा[णस्य सोऽयं]दोषः स्याद्वादिनां तु नः (न) ।
तथोपपत्तिरेवेयमन्यथानुपपन्नता ॥ ७८ ॥
सा च हेतोः स्वरूपं तत् ह्यन्तर्व्याप्तिश्च विद्धि नः ।
सामग्री-विकलत्वेन सङ्केतरहितो न ताम् ॥ ७९ ॥
वेत्तैव हेतुदृष्टा च क्षणिकत्वादिकं यथा ? ।
किञ्चोहात् साध्यमात्रस्य वित्तिः स्यादनुमानतः ॥ ८० ॥
[व्याप्ति ?]काल-विशिष्टस्य तस्येति सफलाऽनुमा ।
अपि च व्याप्ति-काले हि साध्यधर्मस्य निर्णयः ॥ ८१ ॥

हेतु-प्रयोग-काले तु तद्विशिष्टस्य धर्मिणः ।
किञ्च पक्षादिधर्मत्वेऽप्यन्तर्व्याप्तेरभावतः ॥ ८२ ॥

तत्पुत्रत्वादिहेतूनां गमकत्वं न दृश्यते ।
पक्षधर्मत्व-हीनोऽपि [गमकः कृत्तिको]दयः ॥ ८३ ॥

अन्तर्व्याप्तेरतः सैव गमकत्व-प्रसाधनी ।
मुहूर्तान्ते(र्ध्व)धिकः काल(लः) शकटा(टोद)यवानिति ॥ ८४ ॥

तद्वत्त्वे स्यादयस्कारकुटिधूमाग्निमानग्नि च ? ।
क्रोशादधिकदेशोऽयमग्निमानिति कल्पनात् ॥ ८५ ॥

ततो गमकता हेतोरन्तर्व्याप्तेर्न [चान्यथा] ।
पक्षधर्मत्ववान्सर्वो हेतुरेवेति नेष्यते ॥ ८६ ॥

तद्वत्येवाविनाभावाद्धेतुस्तद्वानितीत्यसत् ।
पक्षधर्मत्व-वैकल्येऽप्यन्यथानुपपत्तिमान् ॥ ८७ ॥

हेतुरेव, यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ।
अप्रमाणान्नहीष्टाप्तिरनिष्टाप्तेश्च सम्भवात् ॥ ८८ ॥

ततस्त[द्विकलहेतो]रदृष्टान्तेऽपि हेतुता ।
ततस्तद्व्यवहारादेरन्यथानुपपत्तितः ॥ ८९ ॥

क्षणानामेकताऽभावात्क्रमानेकान्त-सुस्थितिः ।

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरि-विरचितायां स्याद्वादसिद्धौ क्षणिकवादिनं प्रति क्रमाऽनेकान्त-सिद्धिः ॥ ४ ॥

[५. भोक्तृत्वाभाव-सिद्धिः]

[नित्यैकान्तो न योग]योऽयं कर्त्तुर्भोक्तृत्वहानितः ।
कर्तृत्वे सत्यभोक्तृत्वादस्मिन् कर्तृत्व-हानितः ॥ १ ॥
कर्तृत्वमपहायैव भोक्तृत्वे स्यादनित्यता ।
कर्तृत्वादेरभिन्नत्वाद्भिन्नत्वे नात्मनो हि तत् ॥ २ ॥
कर्तृत्वादेश्च बुद्ध्यादेरिव सम्बन्ध आत्मना ।
समवायस्ततस्तस्य स्यादात्मी[यत्वं चेत्य]सत् ॥ ३ ॥
असिद्धेः समवायस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणतः ।
न ह्यस्याध्यक्षवेद्यत्वं विवादस्यैव दर्शनात् ॥ ४ ॥
निर्णयैकत्वरूपं हि प्रत्यक्षं न्यायवेदिनाम् ।
निर्णीतेऽपि विवादश्चेत् गुण्यादावपि किं न सः ॥ ५ ॥
विवादो यदि तत्राऽपि विभ्रमैकान्तसं[भवात्] ।
[चेत्तस्या]निर्णयात्मत्वं न च ज्ञानस्य सम्मतम् ॥ ६ ॥
न चानिर्णीतसिद्धत्वं[1] ज्ञानाद्वैतादिवद्भवेत् ।
नागमाच्चास्य[2] सिद्धत्वं तत्प्रामाण्ये विवादतः ॥ ७ ॥
इह शाखासु वृक्षोऽयमिति सम्बन्धपूर्विका ।
बुद्धिरिहेदंबुद्धित्वात्कुण्डे दधीति बुद्धिवत् ॥ ८ ॥
इत्य[सद्वन-चूतादि-बुद्धि]तो व्यभिचारतः ।
वने चूत इहेत्यादौ सम्बन्धोऽन्यो हि नेष्यते ॥ ९ ॥
समवायाख्यसम्बन्धो न ह्यस्ति वन-चूतयोः ।
गुणः(ण)गुण्यादिवत्तत्र न ह्यस्त्ययुतसिद्धिता ॥ १० ॥

---

१ समवायस्य । २ समवायस्य ।

संयोगाख्ये(ख्यो) न सम्बन्धो द्रव्ययोः खल्वयं मतः ।
न हि द्रव्यं वनं वृ[क्ष एव द्रव्यं हि] तत्त्वतः ॥ ११ ॥

इहेदंबुद्धिहेतोस्तदेतेन व्यभिचारतः ।
नान्यसम्बन्धसाधित्वं तद्धेतोयः किमृच्छति ॥ १२ ॥

ततो बुद्ध्यादिसम्बन्धे समवायान्नि(ये नि)राकृते ।
बुद्ध्यादेर्भिन्न एवाऽऽत्मा भवेत्तादात्म्य-विद्विषाम् ॥ १३ ॥

एवं सति जडाऽऽत्माऽयं धर्मकर्ता क[थं खलु] ।
[क्षणिकैकान्तव]त्तस्मान्नित्यैकान्तोऽपि निष्फलम् ॥ १४ ॥

किञ्चात्म-बुद्ध्यभेदश्च(दञ्च)भेद-प्रध्वंसमेव वा ।
समवायोऽपि कुर्वीत नाऽन्यद्गत्यन्तरात्ययात् ॥ १५ ॥

पूर्वपक्षेऽप्यनित्यत्वमात्मनो बुद्धिवद्भवेत् ।
नित्यत्वं वाऽऽत्मवद्बुद्धेरभेदस्याविशेषतः ॥ १६ ॥

पक्षान्तरे ....भेदनाशतः ।
भेदनाशे स्वतन्त्रत्वमात्म-बुद्ध्योर्घटादिवत् ॥ १७ ॥

भेदः प्राक् च तयोर्नो चेन्नाभेदोऽप्युक्तदूषणात् ।
भेदाभेदस्तु नेष्टस्तत्समवायेन किं फलम् ॥ १८ ॥

भेदोऽत्राभाव एव स्यादितरेतरसञ्ज्ञकः ।
त[द्बुद्ध्यादेः स्वतन्त्रत्वं] न स्यादात्मन इत्यसत् ॥१९॥

तथाप्यभेदतः प्रोक्त-दोषाद्गत्यन्तरात्ययात् ।
पृथक्त्वाख्यगुणाद्भेदे भेद एव घटादिवत् ॥ २० ॥

स्यात्पृथक्त्वगुणाद्भेदोऽभेदश्च समवायतः ।
इति चेत्सङ्कटापत्तिः कथञ्चिद्वाद-विद्विषाम् ॥ २१ ॥

इहेदं [हि बुद्ध्युत्पादमा]त्रं तत्फलमित्यसत् ।
अभेदादिविधिर्नो चेत्सम्बन्धादिप्रसङ्गतः ॥ २२ ॥

बुद्ध्याद्याधारता मुक्तेऽप्यात्मव्यापित्वतः समा ।
ततो बुद्ध्यादिसम्बन्धः स्यात्तस्याऽप्यविशेषतः ॥ २३॥

अमुक्तप्रभवत्वं स्याद्विशेषोऽत्रेति चेदसत् ।
मुक्त-प्रभवता किं न बु[द्ध्यादेरविशेष]तः ॥ २४ ॥

बुद्ध्याद्या(देः) कारकत्वं हि मुक्ताऽमुक्तात्मनोः समम् ।
अन्यथा प्रागकुर्वत्वकुर्वत्वां (तां) नित्यता-क्षयात् ॥ २५ ॥

अमुक्त-समवेतत्वात्स्यात्तत्प्रभवेत्यसत् ।
तस्य सत्समवेतत्वे सा स्यात्तस्यां हि तद्भवेत् ॥ २६ ॥

अमुक्तात्मन्यदृष्टादेः सत्त्वाद्बुद्ध्यादिरत्र चेत् ।
मुक्तेऽपि [स्याददृष्टादि]सम्बन्धस्याविशेषतः ॥ २७ ॥

संयोगोऽन्योपि सम्बन्धो ह्यदृष्टाद्यैस्तयोः समः ।
समः स्वस्वामिसम्बन्धमात्रं चानुपकारतः ॥ २८ ॥

उपकारोऽपि भिन्नश्चेत्सम्बन्धोऽन्येन न स्थितिः ।
उपकारान्तराक्षेपादभेदे नाऽऽत्म-नित्यता ॥ २९ ॥

मुक्तस्य तु न योग्य[त्वमभिन्ने] करणे यदि ।
तन्नाशात्तदनित्यत्वमभेदाद्भेददूषणात् ॥ ३० ॥

तस्मादतिप्रसङ्गस्य(स्या)परिहारः प्रागुदीरितः ।
आत्म-बुद्ध्योरभेदादिर्विधिः स्यात्समवायतः ॥ ३१ ॥

तदभ्युपगमे तु स्यात्प्रागुक्तं दूषणं ततः ।
धर्मकर्तुः फलाभावो नित्या(त्यैकान्त)वा''क्तितः(प्रवादिनः)।३२।

इति नित्यवादिनं प्रति धर्मकर्तु-
र्भोक्तृत्वाभाव-सिद्धिः ॥५॥

[६. सर्वज्ञाभाव-सिद्धिः]

तत्प्रणेताऽप्ययुक्तार्थ-वक्तृत्वान्नैव सर्ववित् ।
सरागश्च ततो मुक्त्यै नान्यैः सेव्योऽस्मदादिवत् ॥ १ ॥

दारादि-हारि-वैरी च सृष्टो येनाविचारतः ।
सोऽयमन्यात्कथं रक्षेत्पततोऽन्या[न् जनान् च स्वं] ॥ २ ॥

[अवि]चारोऽपि नैव स्यात्स्वान्योपद्रव-कृद्विदाम् ।
न चोपद्रव-हीनोऽयमीशः कोपादि-दर्शनात् ॥ ३ ॥

सर्वज्ञो वीतरागश्च कश्चिदन्यो यदीष्यते ।
पूज्यः स एव नैवाऽन्यो रत्नविन्न हि काचभाक् ॥ ४ ॥

नाऽस्याऽपि निरुपायत्वमवक्तृत्वाददेहिनः ।
वक्तृत्वे वा सदा तत्स्यात् [तन्नियामकस्यात्य]यात् ॥ ५ ॥

तत्स्वभावोऽन्यसम्बद्धो न स्यात्प्रागेव दूषणात् ।
परिणाम्येव सोऽयं चेत्स(त्स्या)द्वादस्यैव सुस्थितिः ॥ ६ ॥

ततः कूटस्थ-नित्यत्वे वक्तृता नाऽस्य सा यदि ।
तन्न स्यादिति दौर्घट्यं नित्यैकान्त-प्रवादिनाम् ॥ ७ ॥

परिणाम्यनुपायस्याऽप्यदेहस्य न वक्तृ[ता] ।
[नित्यैकान्ते प्र]मा-हानेः प्रत्यक्षादेरसम्भवात् ॥ ८ ॥

तदागमोऽस्य वक्तृत्वे न प्रमाऽन्योन्यसंश्रयात् ।
तदागम-प्रमात्वेऽस्य वक्तृताऽस्यां हि तद्भवेत् ॥ ९ ॥

देहारम्भोऽप्यदेहस्य वक्तृत्ववदयुक्तिमान् ।
देहान्तरेण देहस्य यद्यारम्भोऽनवस्थितिः ॥ १० ॥

[अ] नादिस्तत्र बन्धश्चेत्त्यक्तोपात्त-शरीरता ।
अस्मदादिवदेवाऽस्य जातु नैवाऽशरीरता ॥ ११ ॥

देहस्यानादिता न स्यादेतस्यां च प्रमाऽत्ययात् ।
सोपायो यदि वक्ता स्यादयमेवाऽस्तु सर्ववित् ॥ १२ ॥

निरुपायोऽस्ति सोपायाद् द्वेधाद्वा तस्य सिद्धितः ।
इत्यस[त्तस्य दुष्टत्वान्] नित्यैकान्तवदप्रमा ॥ १३ ॥

नित्यैकान्तस्य दुष्टत्वं प्रागेव च निरूपितम् ।
एकं शास्त्रं क्वचिन्मानं क्वचिन्नेत्यनिबन्धनम् ॥ १४ ॥

निरुपायो न वक्ता चेत्सोपायो नानुपायतः ।
आगमोक्त उपायस्य(श्चेत्)नाऽऽगमो वक्तृ-हानि च (नितः)॥१५॥

सोपायानां[तदीशो हि ना]गमस्योपदेशकः ।
निरुपायो न वैयर्थ्यात्प्रमा-हानेश्च साधनात् ॥ १६ ॥

किञ्च वेद-प्रमाणं न विरुद्धार्थावबोधनात् ।
एकान्ताभेद-भेदौ हि तत्रोक्तौ सर्व-वस्तुनः ॥ १७ ॥

तथा सर्वविदस्तीति स नास्तीति च चर्चितम् ।
हिरण्यगर्भः सर्वज्ञ इत्यादेर्वे[दवाक्यतः] ॥ १८ ॥

नियोग-भावनारूपं भिन्नमर्थद्वयं तथा ।
भट्ट-प्रभाकराभ्यां हि वेदार्थत्वेन निश्चितम् ॥ १९ ॥

अर्थवादत्वमेकस्य तद्वाक्यस्येति चेदिदम् ।
कुतो ज्ञातं न वेदात्स्यात्सर्वार्थ-प्रतिपादनात् ॥ २० ॥

सव्याख्यानां न(तान्न) वेदाच्च नियतार्थ-विनिश्चयः ।
[तद्व्याख्यानस्य] बाहुल्याद्भिन्नार्थ-प्रतिवा(पा)दिनः ॥ २१ ॥

ततः प्रमाण-वैकल्याददेहो देहवानपि ।
निरुपायो न सर्वज्ञः सोपायोऽप्युक्तदूषणः ॥ २२ ॥

इति नित्यैकान्तप्रमाणे सर्वज्ञाभाव-सिद्धिः ॥६॥

[७. जगत्कर्तुरभाव-सिद्धिः]

ततः सोपाय एवा[ऽयं ध्वस्त-रागा]दि-दूषणः ।
सर्वतत्त्वोपदेशी च सर्वज्ञो युक्तिभावतः ॥ १ ॥
[1]ज्योतिःशास्त्रादिदर्शित्वस्यान्यथानुपपत्तितः ।
तदर्थसाक्षात्कार्यस्तीत्यनुमा युक्तिरिष्यते ॥ २ ॥
निरुपाये न सा युक्तिस्तस्यावक्तृत्व-साधनात् ।
द्(दु)ष्ट-वाक्त्वाच्च बुद्धा(द्धादौ)सोपायेऽपि च [नेष्यते]॥ ३ ॥
[विधूत]-कल्पना-जालगम्भीरोदारमूर्तये[2] ।
इत्यादि-वाक्य-सद्भावात्स्याद्धि बुद्धेऽप्यवक्तृता ॥ ४ ॥
विकल्पयोनयः शब्दा[3] इति बौद्ध-वचःश्रुतेः ।
कल्पनाया विकल्पत्वान्न हि बुद्धस्य वक्तृता ॥ ५ ॥
अमिथ्यार्थ-विकल्पोऽपि तस्य चेत्स्यादिदं भवेत् ।
विधूत-कल्पन[ा]जाल-गं[भीरोदारेदं व]चः ॥ ६ ॥
विकल्पयोनि-शब्दस्याऽप्यनिष्टा स्यात्प्रमाणता ।
ततो बुद्धोऽप्यवक्तैव वक्तृत्वे दुष्टवागपि ॥ ७ ॥
किञ्च ज्ञ(ञ्चिज्ञः)स्व-पर-द्रोहिदैत्य-सृष्टेति नेश्वरः ।
सोपायो निरुपायो वा भवेद्वक्ताऽप्ययुक्तवाक् ॥ ८ ॥

---

१ 'कश्चित्पुरुषः सर्वभावसाक्षात्कर्त्ताऽस्ति, अविसंवादिज्योतिर्ज्ञानान्यथानुपपत्तेः' इति भावः ।

२ प्रमाणवार्त्तिक १–१ ।

३ 'विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः ।
तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥'
—उद्धृ० न्यायकुमु० पृ० ४३७ ।

आत्मदृष्टानुकूल्ये......................चेत्परवानयम् ।
स्यादज्ञो वाऽन्यथा ज्ञात्वा स्व-बाधान्को विधित्सति ॥ ९ ॥
ततः सर्वज्ञ एव स्याज्जगत्कर्तेति बुद्धितः ।
तत्कर्तृसाधनायोक्तं मान(नं)किञ्चिज्ज्ञसाधनम् ॥ १० ॥
तच्चेदं स्यान्महीध्रादि बुद्धिमद्धेतुकं, यथा ।
कुम्भाद्यचिदुपादानात्कार्यत्वाद्वा भ[वे]रि(दि)ति ॥ ११ ॥
किञ्चिज्ज्ञश्च भवेन्नैव जगत्कर्ताऽस्मदादिवत् ।
ततोऽयं कर्तृवादी स्यात्स्ववधाय कृतोद्यमः ॥ १२ ॥
स्व-परद्रोहिदैत्यानां सृष्ट्यभ्युपगमान्ननु ।
कर्तुः किञ्चिज्ज्ञता सिद्धा तत्किं नाऽयं सुबो(बा)धकः ॥ १३ ॥
दैत्यस्यादृष्टतः सृष्टौ परवानज्ञ एव वा ।
दैत्याऽदृष्ट-द्वयोः सृष्टौ मिथो स्याद्व्यभिचारिता ॥ १४ ॥
अतत्कार्यसुरादौ च कार्यत्वादेर्विलोकनात् ।
अदृष्टं स्यादपूर्वादि चिदुपादानमित्यसत् ॥ १५ ॥
अदृष्टं चाचिदुत्पन्नं मोहकृत्वात्पु(त्सु)रादिवत् ।
मोहः सुरादितो दृष्टो ह्यदृष्टश्च तदत्यये ॥ १६ ॥
ततोऽचिदाऽत्र दृष्टेयमन्वय-व्यतिरेकता ।
मोहस्येत्यचिदेवेदं दृष्टं मोहकृतेरिति ॥ १७ ॥
तया[1] कारण-कार्यत्वं धूम-वह्न्यादिषूच्यते ।
अनित्यत्वाददृष्टस्य कार्यत्वमविवादतः ॥ १८ ॥
हेतु-द्वयं च दैत्याङ्गे ततः स्याद्व्यभिचारिता ।
आत्मस्वाकाश-कालादेरेव यस्मादकार्यता ॥ १९ ॥

---

१ अन्वयव्यतिरेकतया, 'अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो हि कार्य-कारणभावः' इत्यर्थः ।

तद्धेतोर्व्यभिचारित्वात्तत्सृष्टेः स्यादसिद्धता ।
नो चेत्तद्व्यभिचारित्वं दैत्य-सृष्ट्युक्तदूषणम् ॥ २० ॥

तस्मादुभयथाऽपि स्याज्जगत्कर्तुरसिद्धता ।
प्राक्प्रपञ्चित-दोषाच्च नेश्वरोऽयं परोदितः ॥ २१ ॥

किञ्चिज्ज्ञ एव सिद्धोऽपि दैत्यसृष्टिमपीच्छताम् ।
न हि स्वान्यार्ति-कृत्वं स्याद्विरागे विश्व-वेदिनि ॥ २२ ॥

इति जगत्कर्तुरभाव-सिद्धिः ॥ ७ ॥

[अर्हत्सर्वज्ञ-सिद्धिः]

ततो भवेदर्हन्नेव सोपायोऽपि सर्ववित् ।
अन्यथानुपपन्नत्वादितीयमनुमा स्थिता ॥ १ ॥

विवक्षितः स किञ्चिज्ज्ञो मर्त्यो वक्तृत्वभावतः ।
अस्मदादिर्वादित्यादेः सर्वज्ञो [नेत्य]सम्मतम् ॥ २ ॥

न हि सर्वज्ञ-वक्तृत्वविरोधः कश्चिदीक्ष्यते ।
सहानवस्थितिर्न स्यात्सहावस्थिति-दर्शनात् ॥ ३ ॥

ज्ञानोत्कर्षस्तु सार्वज्ञ्यं तदुत्कर्षो हि वक्तरि ।
जैमिन्यादावभीष्टस्तद्विरोधोऽन्योऽपि नो भवेत् ॥ ४ ॥

अन्योन्यपरिहारो हि विरोधोऽन्यः स किं भवेत् ।
सहाव[स्थित]योर्यस्मात्स तु तत्तदभावयोः ॥ ५ ॥

किञ्च स्याद्वक्तृतोत्कर्षो विज्ञानोत्कर्षकारणे ।
वाग्मिताकारणत्वं हि जैमिनौ तस्य सम्मतम् ॥ ६ ॥

किञ्चिज्ज्ञ एव तत्रापि वक्तृत्वं दृष्टमित्यसत् ।
विरोधो ह्यल्पयोस्त[1]स्यात्प्रकाश-तमसोरिव ॥ ७ ॥

---

[1] तत् अल्पः ।

वीतरागस्य नेच्छाऽस्ति कथं स्याद्वक्तृतेत्यसत् ।
न हि स्या[1]त्तया[2],स्याच्चेत्, तयाऽ[3]ज्ञस्याऽस्तु शास्त्रवाक् ॥८॥
[4]तदिच्छायामवक्तृत्वाद्, गोत्र [प्र]स्खलनादिषु ।
तदभावेऽपि वाग्दृष्टै(ष्टा), सा पुंज्ञानात्, न चेच्छया ॥९॥
सार्वज्ञ-सहजेच्छा तु विरागेऽप्यस्ति, सा हि न ।
रागाद्यु पहता, तस्माद्वेद्वक्तैव सर्ववित् ॥ १० ॥
पुरुष[त्वादि]हेतुश्च नैव सर्वज्ञ-बाधकः ।
जैमिन्यादौ च तद्दृष्टेर्विरोधाभाव-निश्चयात् ॥ ११ ॥
किञ्चिज्ज्ञे तद्दृशिश्चेत्स्यात्सर्वज्ञेऽप्यविरोधतः ।
विरोधो ह्यल्पयोश्च स्यादल्पो दीपान्धकारवत् ॥ १२ ॥
वेद-वाक्यं प्रमाणं न विरुद्धार्थावबोधनात् ।
उन्मत्त-वाक्यवत्तन्न भेदाभेदौ विरोधिनौ ॥ १३ ॥
अर्थवादत्वमेकस्येत्येतत्प्रागेव दूषितम् ।
तन्न वेदाच्च[5] तद्बाधस्तत्सर्वज्ञोऽस्त्यबाधतः ॥ १४ ॥
एवं सार्वज्ञ्य-सद्भावाद्भगवत्यर्हति स्फुटम् ।
अन्येष्वसम्भावाच्च स्यात्स वोपास्य इति स्थितम् ॥ १५ ॥
अपि चातीन्द्रियार्थत्वे पुंवाक्यत्वान्न हि प्रमा ।
अर्हद्वाक्यं यथा बुद्धवाक्यमित्यपि दुर्मतम् ॥ १६ ॥
ऐन्द्रियार्थे हि वाग्दृष्टा दोषेणैवाप्रमाऽन्यथा[6] ।
आप्तवाक् चाप्रमा स्यात्तत्सा [7]परोक्षेऽपि तेन सा ॥ १७ ॥

---

१ वक्तृता इति शेषः । २ इच्छया । ३ इच्छया । ४ अज्ञस्य । ५ सर्वज्ञे
६ प्रमा च गुणेनैव । ७ अतीन्द्रियेऽर्थे ।

अध्यक्षवत्परोक्षोऽपि नार्थोऽप्रामाण्यसाधकः ।
[1]स-विशेषण हेतुश्च तन्नाप्रामाण्यसाधकः ॥ १८ ॥

हेतोस्तत्सूचिता दृष्टा बुद्धा(द्धानां) वचसीति चेत् ।
तथापि दोषतः सा स्यादन्वय-व्यतिरेकतः ॥ १९ ॥

ततोऽप्रयोजको[2] हेतुर्विनाभाव-हानितः ।
पुरुषत्वादिवद्धेतोविपक्षेणाविरोधतः ॥ २० ॥

ततः प्रध्वस्त-दोषत्वादर्हद्वाक्यं प्रमा भवेत् ।
पुंवाक्त्वेऽपि, न चान्येषां दुष्ट-वाक्त्वस्य[3] साधनात् ॥ २१ ॥

इति भगवदर्हत एव सर्वज्ञत्वसिद्धिः ॥ ८ ॥

[९. अर्थापत्तिप्रामाण्य-सिद्धिः]

अर्थापत्तिः प्रमाणं न, तया सर्वविदः कथम् ।
सिद्धिश्चेत्, तत्प्रमात्वं हि स्यान्मीमांसक-सम्मतम् ॥ १ ॥

किञ्चानुमानमेवेयमर्थापत्तिरसत्यपि ।
दृष्टान्ते न हि दृष्टान्तः प्रमाणास्तित्व-साधने ॥ २ ॥

[4]इष्ट-साधनतः सन्ति प्रमाणानीत्यनुमानतः ।
साध्यते च तदस्तित्वमविनाभावभावतः ॥ ३ ॥

अप्रमाणान्न हीष्टाप्तिरनिष्टाप्तेश्च सम्भवात् ।
कल्पितान्न ततः सा स्यात्किं दाहः कल्पिताग्नितः ॥ ४ ॥

---

१ अतीन्द्रियार्थत्वे सति पुंवाक्त्वादिति पूर्वोक्तः ।

२ साध्याऽसाधकः अन्यथानुपपन्नत्वशून्य इत्यर्थः । ३ दोषयुक्त-वचनस्य । ४ अद्वैतवादिनो (शून्याद्वैतवादिनो)ऽपि प्रमाणानि सन्ति, इष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तेरिति भावः ।

कुञ्चिकाविव चोत्पन्न-मिथ्या-मणि-धिया कथम् ।
मणिर्लभ्यते चेन्नैवं तल्लाभो न हि तद्धिया ॥ ५ ॥

गृहान्तर्मणिमध्यक्षात्पश्यतो मणि-लाभतः ।
तन्निमित्तं तु मिथ्यादिस्तन्नेष्टाप्तिप्रमोनतः ॥ ६ ॥

साध्यते विभ्रमैकान्तस्तदन्योपाय-हानितः ।
पा[रि]शेष्याच्च न [मानं स्याद्वि]भ्रमनिषेधने ॥ ७ ॥

इति चेत्तद्द्वयं च स्यान्मा(न्मा)नमिष्ट प्रसाधने ।
अमानादनुपायादेरसाध्य. किमविभ्रमः ॥ ८ ॥

ततो यथाऽविनाभावः प्रमाणास्तित्व-साधने ।
अदृष्टान्तेऽपि निर्णीतस्तथा स्यादन्य-हेतुषु ॥ ९ ॥

दृष्टान्त-रहिते कस्मादविनाभावनि[र्णयः] ।
[अ]न्यत्र ज्ञात सम्बन्ध-साध्य-साधनयोर्भवेत् ॥ १० ॥

इति चेत्पक्ष एव स्यादविनाभाव-निर्णयः ।
विपक्षो(क्षे) बाध-सामर्थ्यात्तर्काच्चास्य विनिश्चयः ॥ ११ ॥

पक्षे तन्निर्णयो न स्यात्साध्यस्याप्रतिपत्तितः ।
साध्य-साधनवित्तौ हि पक्षे तन्निर्णयो भवेत् ॥ १२ ॥
अथ साध्यपरि[च्छेदस्तर्का]दन्यत एव वा ।
सिद्धमेव भवेत्साध्यं तत्सिद्धव्यर्थानुमा वृथा ॥ १३ ॥

इति चेदविनाभावः साध्य(ध्या)ज्ञानेऽपि गम्यते ।
तस्य हेतोः स्वरूपत्वात्सामग्रीतोऽस्य निर्णयः ॥ १४ ॥

तदभावे त्वनिर्णीतिः क्षणिकत्वादिवद्भवेत् ।
ततोऽनुमापि ना सा)र्था स्यात्तथा साध्यस्य [बोध]नः ॥१५॥
अथवा, साध्य-सामान्य-वित्तर्कस्तद्विशेषव(वि)त् ।
अनुमाहेतुना व्याप्तिस्तत्सामान्यस्य हीष्यते ॥ १६ ॥

अन्यैश्चाभ्युपगन्तव्यः पक्षे साध्यस्य च ग्रहः ।
न हि साकल्यतो व्याप्तिस्तत्रास्यानवबोधने ॥१७॥

साध्य-साधनयोर्व्याप्तेरसाकल्येन निर्णये ।
साधनं गमकं न स्यात्तत्पुत्रत्वादिहेतुवत् ॥१८॥

स श्यामस्तस्य पुत्रत्वादन्यपुत्रवदित्यतः ।
साकल्य-व्याप्त्यनिर्णीत्या श्यामत्वं हि न सिद्ध्यति ॥१९॥

अन्तर्व्याप्त्यनपेक्षायां दृष्टान्ते व्याप्ति-दर्शनात् ।
हेतुर्भवेदयं चेति हेत्वाभासो न कश्चन ॥२०॥

त्रिलक्षणं च तत्रास्ति पक्षधर्मत्वमुख्यकम् ।
ततोऽन्तर्व्याप्ति-वैकल्यादेवास्याहेतुता स्थिता ॥२१॥

ततोऽवश्यमपेक्षत्वाद् दृष्टान्ते सत्यविस्फुटम् ।
तयैव गमकत्वाच्च ज्ञेयाऽन्तर्व्याप्तिरञ्जसा ॥२२॥

तथा च पक्ष एव स्यादविनाभाव-निर्णयः ।
विपक्षे बाध-सामर्थ्यात्तत्रार्थापत्तिरप्रमा ॥ २३ ॥

इत्यर्थापत्तिप्रामाण्य-सिद्धिः ॥ ९ ॥

[वेदपौरुषेयत्व-सिद्धिः]

विपक्षे न तु बाधोऽस्ति ज्योतिःशास्त्रं[1] हि वेदतः ।
अपौरुषेयतः सिद्ध्येन्नो चेदपि सर्ववित् ॥ १ ॥

ततोऽन्यथानुपपन्नत्वं तच्छास्त्राणां न युज्यते ।
अन्यथाऽप्युपपन्नत्वादिति चेदिदमप्यसत् ॥ २ ॥

---

१ ज्योतिःशास्त्रोपदेशः, स चापौरुषेयवेदादपि सिद्ध्यतीति न तदर्थं सर्वज्ञः स्वीकर्तव्य इति पूर्वपक्षिणो मीमांसकस्याशयः ।

पौरुषेयो भवेद्वेदो वर्ण-वाक्यात्मकत्वतः ।
भारतादिवदित्येवमनुमानस्य दर्शनात् ॥ ३ ॥

वेदे वर्णस्य वर्णानामभिव्यक्तिक्रमस्य च ।
नित्यताऽन्यत्र वर्णानामेक-वक्तृ-स्मृतेर्यदि ॥ ४ ॥

न च वर्णस्य नित्यत्वं देश-कालादि-भेदिनः ।
तस्यैव प्रतिपन्नत्वात्घटादेरिव सर्वथा ॥ ५ ॥

स एवायमकारादिरित्यादिप्रत्ययोऽपि वै ।
सादृश्यात्स्यादभेदाच्चेदात्माद्वैतस्च सम्भवेत् ॥ ६ ॥

सैवेयं स्यादहंबुद्धिरिति प्रत्ययभावतः ।
साध्यते तत्र नाभेदप्रत्ययाद्भेदविभ्रमात् ॥ ७ ॥

भ्रान्तेयं प्रत्यभिज्ञा स्यादात्म-भेदस्य दर्शनात् ।
अभेदे सुख-दुःखादेः प्रत्यात्मा(त्म ?)नियतिः कथम् ॥ ८ ॥

इति चेत्किं न वर्णेषु भ्रान्ता सा तुल्यदोषतः ।
उदात्तान्यादिभेदो हि सर्वस्तत्र च वीक्ष्यते ॥ ९ ॥

अभिव्यञ्जक-वाय्वादेर्भेदाद्भेदोऽत्र चेदयम् ।
उपाधिभेदतोऽभीष्टा सुखादेर्नियतिः परैः ॥ १० ॥

प्रदेशाद्यैरखण्डस्य नित्यशुद्धस्य चात्मनः ।
व्यापिनोऽन्यैर्न भेदश्चेत्तादृग्वर्णेष्वयं कथम् ॥ ११ ॥

ततः स्यात्प्रत्यभिज्ञानाद्दोष-साम्याच्च सर्वथा ।
वर्ण-नित्यत्वसिद्धिश्चेदात्माद्वैतस्य च स्थितिः ॥ १२ ॥

वाच्य-वाचकसम्बन्ध-परिज्ञानं न सम्भवेत् ।
वर्णादेश्चेदनित्यत्वं सङ्केतित-वचः-क्षयात् ॥ १३ ॥

स्यादयं गौः पटोऽयं स्यादिति सङ्केतितं वचः ।
स्थायि चेत्तदनुस्मृत्या वाच्ये(च्यो)ऽर्थो हि न चान्यथा ॥१४॥

इति चेत्तदनित्यत्वेऽप्येतज्ज्ञानं च सम्भवेत् ।
सादृश्ये ह्यर्थ-शब्दानां तत्सङ्केतस्य सम्भवः ॥ १५ ॥
ईदृगर्थस्य शब्दोऽयमीदृग्वाचक इत्ययम् ।
सङ्केतः कल्पिते (तो) ह्यत्र नित्य-सामान्य-दूषणात् ॥ १६ ॥
व्यापि वा व्यक्तिनिष्ठं वा न हि नित्यं तदीक्ष्यते ।
व्यक्तिं विनाऽप्यदृष्टं चेदस्ति अत्र न किं भवेत् ॥ १७ ॥
तत्सामान्येऽपि सादृश्यं भवत्येवान्यथा कथम् ।
सदृशोऽयमनेनेति धीः सामान्यात्तु सा न हि ॥ १८ ॥
एकत्वबुद्धिहेतुत्वं ह्यस्यान्यैश्चावकल्प्यते ।
सादृश्यं च न चानित्यं सर्वव्यक्त्युद्भवं हि तत् ॥ १९ ॥
सामान्यापेक्षया नित्यमनित्यं व्यक्त्यपेक्षया ।
तत्स्यात्सादृश्य एवाऽयं सङ्केतो युक्तिभावतः ॥ २० ॥
सादृश्ये यदि सङ्केतस्तद्विशेषः(ष)स्मृतिः कथम् ।
विशेषानुस्मृतौ हि स्याद्विशिष्टार्थावबोधनम् ॥ २१ ॥
इति चोद्यं च तुल्यं स्यान्नित्यसामान्यवादिनाम् ।
व्यक्तेर्व्यापिनि भिन्नेऽत्र तत्सङ्केतावकल्पनात् ॥ २२ ॥
समवायेन सम्बद्धमिदं भिन्नमपीति चेत् ।
किं न तादात्म्यसम्बन्धो व्यक्ति-सादृश्ययोरपि ॥ २३ ॥
जैनैः पौद्गलिकस्कन्धपरिणामस्य शब्दता ।
उच्यते, न च सम्बन्धो जडाणूनां स्वयं भवेत् ॥ २४ ॥
एकश्रोत्र-प्रविष्टानां तदैवान्यश्रुतिश्च न ।
इति चोद्यं च वर्णानां व्यञ्जकेषु ध्वनिष्वपि ॥ २५ ॥
तद्ध्वनीनां न वर्णत्वं न हि स्व-व्यञ्जकं स्वयम् ।
नाभावः सर्वदा वर्ण-तिरोभाव-प्रसङ्गतः ॥ २६ ॥

यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययन-पूर्वकम् ।
तदध्ययन-वाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ॥ २७ ॥

इत्यस्मादनुमानात्स्याद्वेदस्यापौरुषेयता ।
ततः स्यात्पौरुषेयत्व-प्रतिज्ञाऽनेन बाधिता ॥ २८ ॥

इति चेत्स्यादयं हेतुरप्रयोजक एव वै ।
अविनाभाव-वैकल्यात्तद्भावेऽस्याप्ययं भवेत् ॥ २९ ॥

पिटकाध्ययनं सर्वं तदध्ययन-पूर्वकम् ।
तदध्ययन-वाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ॥ ३० ॥

अपौरुषेयता वेदे कर्तुरस्मरणाद्भवेत् ।
इति चेत्साऽनुमा व्यर्था न हि सिद्धस्य साध्यता ॥ ३१ ॥

कर्तुरस्मरणादेव सा साध्या चेत्तथा न किम् ।
बौद्धैरपि तदस्मृत्या पिटके साऽपि साध्यते ॥ ३२ ॥

बौद्धैः स्मृतोऽत्र कर्ता चेद्वेदेऽपि स्मृत एव सः ।
तैरप्यत्रास्मृतोऽयं चेदसाध्याऽपौरुषेयता ॥ ३३ ॥

श्रुतौ तत्स्मृतिरन्येषां प्रमा मा चेन्न तु प्रमा ।
तत्स्मृतिः पिटकेऽपि स्याद्बौद्धीयत्वाच्छ्रुताविव ॥ ३४ ॥

पिटके तत्स्मृतिश्चेत्स्यात्प्रमा प्रामाण्यमप्यलम् ।
पिटके स्याद्धि बौद्धानां तत्स्मृतेरपि भावतः ॥ ३५ ॥

प्रामाण्यं पिटके न स्याद् बौद्धस्यैवात्र तत्स्मृतेः ।
कर्तृमत्वं तु सिद्धं स्यात्परैरप्यत्र तत्स्मृतेः ॥ ३६ ॥

इति चेत्कर्तृभावोऽपि तदस्मृत्या श्रुतौ कथम् ।
बौद्धस्य तत्स्मृतेरेव भावात्तत्कर्तृसिद्धितः ॥ ३७ ॥

ततो यथैव बौद्धानां प्रामाण्यस्मृतिरप्रमा ।
पिटके स्यात्तथा वेदेऽप्यप्रमैव तदस्मृतिः ॥ ३८ ॥

ततो वेदस्य नैव स्यात्कर्तुरस्मरणादपि ।
अपौरुषेयता, तस्मात्सिद्धा स्यात्पौरुषेयता ॥ ३६ ॥

इति वेदपौरुषेयत्व-सिद्धिः ॥ १० ॥

[११. परतः प्रामाण्य-सिद्धिः]

स्वतः सर्व-प्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥ १ ॥

इति वार्तिक-सद्भावाद्वेदोऽपि स्यात्स्वतः प्रमा ।
तन्नास्य पौरुषेयत्वं तत्त्वे वेदो न सा स्वतः ॥ २ ॥

इत्यप्यसत्प्रमाणानां प्रामाण्यं परतो भवेत् ।
यथा, तथाऽनुमानेन वक्ष्यमाणेन साध्यते ॥ ३ ॥

प्रामाण्यं न प्रमाणानां स्वतोऽप्रामाण्यवद्भवेत् ।
सामग्र्यन्तर-जन्यत्वात्स्वग्रहे कार्यभावतः ॥ ४ ॥

अप्रामाण्यस्य सर्वेषामुत्पत्तिः परतो मता ।
दोष-त्रैरूप्यवैकल्यानाप्तोक्तेरेव भावतः ॥ ५ ॥

निवृत्तिलक्षणं कार्यमप्यस्य परतो मतम् ।
ममेदमप्रमा ज्ञानमिति ज्ञात्वा निवर्त्तनात् ॥ ६ ॥

स्वतोऽप्रामाण्यविज्ञानमेवात्रापि परं भवेत् ।
तद्धि स्यात्परमन्येषाम वसंवेदवादिनाम् ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिलक्षणे कार्ये प्रमायाः स्वग्रहः परम् ।
विषयाव्यभिचारे हि स्वतो ज्ञाते प्रवर्तिते ॥ ८ ॥

एवं च परतः सिद्धा प्रामाण्य-ज्ञप्तिरञ्जसा ।
गुणात्परत एव स्यात्तदुत्पत्तिरपि स्फुटम् ॥ ९ ॥

परतोऽस्य [हि] चोत्पत्तिरिन्द्रियाणामदोषवः ।
हेतोस्त्रैरूप्य-साकल्याच्छब्दस्याप्ताद्व सम्भवात् ॥ १० ॥

दोषाभावो गुणः कस्मान्नीरूपत्वतयेत्यसत् ।
त्रैरूप्याभाव एवं हि हेतुदोषो न सम्भवेत् ॥ ११ ॥

पक्षधर्मत्वमुख्यैतत्त्रैरूप्याभावतः परम् ।
दोषो नास्ति ह्यदृष्टोऽपि स्याच्चेत्स्यादिन्द्रिये गुणः ॥ १२ ॥

ततो दोषान्तरादृष्टे त्रैरूप्याभाव एव वै ।
हेतुदोषो गुणोऽप्येवं स्याद्दोषाभाव इन्द्रिये ॥ १३ ॥

किञ्च स्याद्दोष एषोऽपि त्रिरूपाभाववादिनाम् ।
भिन्नो भावो ह्यभावोऽपि भेदाभेदप्रवादिनाम् ॥ १४ ॥

हेतोरपि गुणस्तस्य तत्साकल्यं न चेदिदम् ।
गुणो भवेत्स दोषोऽपि तद्वैकल्यं कथं भवेत् ॥ १५ ॥

हेतोः स्वरूपमेवेदं तत्साकल्यं यदीष्यते ।
तद्वैकल्यं न दोषः स्यात्स्वरूपाभाव एव वै ॥ १६ ॥

हेतौ तदन्यदोषोऽस्ति धीहेतुत्वात्तदक्षवत् ।
अक्षेष्वन्योऽपि दृष्टो हि काचादिरिति चेदसत् ॥ १७ ॥

अक्षेष्वन्यगुणोऽप्यस्ति धीहेतुत्वाद्यथा वचः ।
इत्यस्मादनुमानाद्धि गुणः स्यादिन्द्रियेष्वपि ॥ १८ ॥

दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं शब्दस्यागुणवत्वतः ।
उभयवादिसिद्धो हि दृष्टान्त इति चेदसत् ॥ १९ ॥

शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितिः ।
तदभावः क्वचित्तावद्गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥ २० ॥

इति वार्तिकतः शब्दगुणवत्वाविवादतः ।
गुणवद्वक्तृकत्वं हि शब्दस्यात्रैव सम्मतम् ॥ २१ ॥

तद्दोषध्वंसनार्थं स्याद्गुणवद्वक्त्रपेक्षणम् ।
इति चेत्तद्गुणायैव किं न स्यात्तदपेक्षणम् ॥ २२ ॥
न हि स्वतोऽसती शक्तिरित्याद्यपि च मौढ्यतः ।
शब्दाप्रामाण्यशक्तिर्हि दुष्टवक्तृ-प्रकल्पिता ॥ २३ ॥
तदर्थं स्यात्तदपेक्षित्वं स्वतः प्रामाण्यसिद्धितः ।
प्रयोजनान्तरासिद्धेश्चेदन्योन्यसमाश्रयः ॥ २४ ॥
स्वतः प्रामाण्यसिद्धौ स्यात्तदर्थं तदपेक्षणम् ।
तदर्थे तदपेक्षित्वे तत्सिद्धिः स्यादिति स्फुटम् ॥ २५ ॥
ततः शब्दे गुणोऽपि स्यादाप्तोक्तत्वं तथा सति ।
दृष्टान्त एव शब्दः स्याद्दृष्टेषु गुण-साधने ॥ २६ ॥
ततः प्रामाण्य-निष्पत्तिः सामग्र्यन्तरतो भवेत् ।
तत्कार्यं स्वग्रहाच्चेति प्रामाण्यं परतो भवेत् ॥ २७ ॥
प्रामाण्ये परतः सिद्धे स्वतः प्रामाण्यहीनता ।
ततश्च पौरुषेयत्वाद्वेदोऽप्यस्य न बाधकः ॥ २८ ॥

इति परतः प्रामाण्य-सिद्धिः ॥ ११ ॥

[१२. अभावप्रमाणदूषण-सिद्धिः]

प्रागभावाद्यभावज्ञा नन्वभावप्रमा, ततः ।
सर्वज्ञाभावविक्तिः स्यात्तयैवेत्यपि दुर्मतम् ॥ १ ॥
भावप्रमाणतोऽन्यायास्तस्या एवानिरीक्षणात् ।
नास्त्यत्र घट इत्यादौ सा ह्यभावविधीत्यसत् ॥ २ ॥
अत्रेति ज्ञानमध्यक्षं प्राग्विज्ञाते घटे स्मृतिः ।
अनुपलम्भतो नास्तीत्युक्तावनुमितिर्भवेत् ॥ ६ ॥

न चान्यद्ग्राह्यमस्त्यत्र सा स्यात्किंविषया प्रमा ।
[1]मानसं नास्तिताज्ञानं नाक्षादुद्भवमित्यसत् ॥ ४ ॥
स्वार्थानुमानसम्भूतिर्घटादिस्मरणे भवेत् ।
हेत्वादिवचने तत्स्यात्परार्थाऽपि च साऽनुमा ॥ ५ ॥
घटादिस्मरणाभावे ग्राह्या स्यात्केवलैव भूः ।
अध्यक्षान्न निषेधो वा विधिर्वाऽस्ति घटादिषु ॥ ६ ॥
विधिमात्रग्रहेऽध्यक्षादद्वैतस्थितिरित्यसत् ।
विधावन्यनिषेधोऽपि तयोस्तादात्म्यतो भवेत् ॥ ७ ॥
निषेध्याग्रहणेऽप्यन्यनिषेधः कथमित्यसत् ।
भावाभावात्मके भावे भाववित्स्यादभाववित् ॥ ८ ॥
तदभावो घटादेश्चेत्स्यादस्याभाव इत्यसत् ।
अन्याभावो हि जातोऽस्य स्वोपादानस्य शक्तितः ॥ ९ ॥
मरीचिकाद्यभावो हि जलादिग्रहणेन चेत् ।
ग्राह्यः कथं प्रवर्त्तेत निःशङ्कस्तदपेक्षकः ॥ १० ॥
ततोऽभावप्रमा नैव तद्ग्राह्यान्तर-हानितः ।
भावाद्भिन्नो न चाभावः कार्यद्रव्यं हि नान्यथा ॥ ११ ॥
प्रागभावे स्थिते तस्य घटादेर्नेह सम्भवः ।
तदुपमर्दनतश्चेत्किं स्यात्तदुपमर्दकम् ॥ १२ ॥
तत्कार्यस्य स्वरूपं चेत्स्यादन्योन्यसमाश्रयः ।
तदुपमर्दनकार्यात्कार्यं तन्मर्दनादिति ॥ १३ ॥

---

१ गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥
—मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११ ।

तदुपमर्दनं नाम कार्यस्योत्पत्तिरेव चेत् ।
कारणस्यैव रूपं स्यात्प्रागभावोऽपि नाऽपरः ॥१४॥

तथा च कारणादेव भावाभावात्मकादिदम् ।
तादृशं कार्यमुत्पन्नमित्यनेकान्तसुस्थितिः ॥१५॥

तन्न तादृगभावोऽपि तत्प्रमा च तथा सति ।
ततोऽपि सर्वविदो न स्याद्बाधो बन्ध्यासुतादिव ॥१६॥

इत्यभावप्रमाणदूषण-सिद्धिः ॥१२॥

[१३.तर्कप्रामाण्य-सिद्धिः]

तर्को न स्यात्प्रमाणं तदविनाभावर्वित्कथम् ।
इति चेद्व्याप्तिवित्किं स्यादध्यक्षादेरशक्तितः ॥१॥

न हि साकल्यतो व्याप्तिरध्यक्षेण प्रतीयते ।
सर्वदेशाद्यविज्ञानाद्विज्ञाने हि स सर्ववित् ॥२॥

असाकल्येन तद्वित्तौ हेतुर्न गमको भवेत् ।
तत्पुत्रत्वादिवत्, किञ्च तच्चेत्तद्विद्वृथाऽनुमा ॥३॥

क्षणिकत्वादिसाध्यस्य व्याप्तिज्ञानेन सिद्धितः ।
साध्यतत्साधनावित्तौ न हि तद्व्याप्ति-निर्णयः ॥४॥

न हि प्रत्यक्षतो ज्ञाते नैल्यादावनुमा भवेत् ।
क्षणिकत्वे समारोपच्छेदनायानुमेत्यसत् ॥५॥

आरोपो यदि तत्र स्यान्नीलादावपि किं न सः ।
प्रत्यक्षविषयत्वस्य सर्वत्राऽप्यविशेषतः ॥६॥

विशेषः क्वापि चेन्नान्ये नैरंश्यं सर्ववस्तुनः ।
निरंशक्षणिकत्वं हि सौगतैः प्रतिपाद्यते ॥७॥

तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः ।
इति तद्वान् विरोधश्च तन्न व्याप्तिविदक्षजम् ॥८॥

तद्विच्चेदनुमा तत्राप्यन्या तद्वित्पुनस्तथा ।
इत्येवमनवस्था तत्तद्वित्तर्कः प्रमा च सः ॥९॥

अगृहीतार्थताऽप्यस्य [नानासं]कलनग्रहात् ।
नाध्यक्षादि हि नानोल्लेखात्म-सङ्कलने क्षमम् ॥१०॥

साध्य-साधनसम्बन्धस्तर्कस्य विषयः स च ।
तदुत्पत्त्यादिसम्बन्धाभावात्तद्विषयः कथम् ॥११॥

असम्बद्धार्थबोधानां घटोऽभूद्विषयः, पटः ।
नैवेति, नियमायोगाद्विषय[ज्ञानयोर्ननु] ॥१२॥
इति चेद्योग्यतैवास्तु सम्बन्धो विषयेऽस्य च ।
प्रत्यक्षस्येव तस्यापि योग्यता नन्वपेक्षते ॥१३॥

अन्यथा धीर्जडाकारा किं न वेद्य घटादिके ।
साकारज्ञानवादे हि नैरंश्या धीर्न चांशवित् ॥१४॥

रूपेणे(णे)व रसाद्यैश्च सन्निकर्षेऽपि चक्षुषः ।
रसादि किं [न वेद्यं स्याच्चक्षुषा] योग्यता-द्विषाम् ॥१५॥

किञ्चासद्ग्रहणे बुद्धेर्योग्यतैव निबन्धनम् ।
तदुत्पत्त्यादिसम्बन्धो न नीरूपास(रूपाख्य)ता धियः ॥१६॥

तत्सत्यप्यन्यसम्बन्धे तदभावेऽपि योग्यता ।
अपेक्ष्येति, तया तर्के विषय-नियमो भवेत् ॥१७॥

ततस्तर्कप्रमा व्याप्तिज्ञाऽन्यथानुपपत्तितः ।
भवेत्तेनाविनाभाव-निर्णयश्चेति सुस्थितम् ॥१८॥

विपक्षे बाधनाज्ज्ञाताऽप्यन्यथानुपपन्नता ।
हेतोस्तथोपपत्तिस्तु कथं ज्ञेयेति दुर्मतम् ॥१९॥

तथोपपत्तिरेवेयमन्यथानुपपन्नता ।
तद्भित्तिरेव तद्भित्तिः पर्युदासनञर्थतः ॥२०॥

ततोऽनैकान्तिकासिद्ध-विरुद्धत्वाद्यभावतः ।
अविनाभावसिद्धेश्च तद्धेतोरस्ति सर्ववित् ॥२१॥

इति तर्कप्रामाण्य-सिद्धिः ॥ १३ ॥

[१४. ....]

गुणाद्यभेदो गुण्यादेस्तथा निर्बाध-बोधतः ।
तद्वत्तस्यान्यथा हानेर्गुणादेरिव संख्यया[१] ॥१॥

समवायान्न तद्बुद्धिरिहेदंप्रत्ययो ह्यतः ।
दृष्टान्ते तदनिष्टेश्च तत्सम्बन्धेऽप्ययोगतः ॥२॥

तत्प्रत्ययस्य हेतुत्वं समवाये परैर्मतम् ।
तस्मादभेदधीर्न स्यात्तस्यां तत्प्रत्ययात्ययात् ॥३॥

न हि दृष्टा घटोत्पत्तिः पटसम्पादिकारणैः ।
ततस्तादात्म्यबुद्धिश्चेत्समवायान्न धीः परा ॥४॥

तादात्म्यप्रत्ययोत्पादि-समवायत एव किम् ।
तदाधारत्वबुद्धिश्च सम्भवेदिति युक्तिमत् ॥५॥

किञ्च नीलादि नैल्यादिस्वरूपेणावबोधयेत् ।
आधारत्वेन नैल्यादेरात्मानं किं नु बोधयेत् ॥६॥

अभेदधीर्न चासिद्धा तस्याः सर्वत्र दर्शनात् ।
[सं]ज्ञिभूतोऽजडो मन्त्रैर्घटीभूता मृदित्यपि ॥७॥

---

१ 'गुण्यादेर्गुणाद्यभेदोऽस्ति तथानिर्बाधप्रतीतिभावात्, यथा गुणादि-संख्ययोः' इत्यनुमानमत्र द्रष्टव्यम् ।

प्रा.....................नां तदात्मत्वे हि सत्ययम् ।
च्विप्रत्ययोऽन्यथा न स्यात्तथाभावोऽप्यभेदिनम् ॥८॥

पृथक्त्वाग्रहणादेव गुण-गुण्याद्यभेदधीः ।
वास्तवाभेदतो नात्र वन-सेनादिबुद्धिवत् ॥९॥

वनादेर्न ह्यभेदोऽस्ति विरलत्वस्य वीक्षणात् ।
तत्तत्राभेदधीर्न स्यात्...................भेदधीः ॥१०॥

इति चेत्स्थूलधीश्चैवमणुष्वेवेति कथ्यताम् ।
बौद्धैर्वनादिदृष्टान्तादणुमात्रं हि सम्मतम् ॥११॥

अतीन्द्रियत्वतोऽणूनामप्रतीतिस्ततः कथम् ।
स्थूलादिप्रतिभासोऽत्र प्रतीते(तौ) ह्यन्यथाग्रहः ॥१२॥

वनाद्यवयवा[श्चूत-शिंशपाद्यङ्]घ्रिपादयः ।
दूरस्थानामिह भ्रान्तियुक्ता भेदाविनिश्चयात् ॥१३॥

तथा वनादिदृष्टान्तः सौगतानां न युज्यते ।
गुणाद्यभेद-विभ्रान्तौ युक्त एवेत्यसङ्गतम् ॥१४॥

न ह्येकान्तेन भिन्नत्वं गुणादीनां च तद्वतः ।
दृ[श्यते य]द्बलादत्राऽप्यभेद-भ्रान्ति-कल्पनम् ॥१५॥

ततोऽप्रतीतिरत्राऽपि समानैव तथा सति ।
अणुषु स्थूलबुद्धावप्यस्य दृष्टान्ततो भवेत् ॥१६॥

प्रधानस्थूलसापेक्षा स्थूलधीः परमाणुषु ।
स्थाणौ पुरुषधीर्यद्वदतस्मिंस्तद्ग्रहत्वतः ॥१७॥

प्रधानः पुरुषो नो चेत्स्थाणौ च न हि तद्ग्रहः ।
इति गुण्यादिसिद्धेर्न स्थूलधीरणुसम्भवा ॥१८॥

इति चेद्गुण-गुण्यादावपि चैवमभेदधीः ।
न स्यादत्रापि न ह्यस्ति प्रधाना काऽप्यभेदधीः ॥१९॥

वास्तवाभेद-विद्वेषे न हि क्वापि प्रधानधीः ।
भ्रान्तत्वादप्रधाना हि गुण-गुण्याद्यभेदधीः ॥२०॥

ततः प्रधानहीनेऽस्मिन्नभेदग्रहणे भवन् ।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो हेतुर्नान्यत्रापीष्टसाधनम् ॥२१॥

तस्मादेवमणुष्वेव स्थूलबुद्धिमनिच्छता ।
वस्तुवृत्त्यैव वक्तव्या गुण-गुण्याद्यभेदधीः ॥२२॥

किञ्चात्राऽभेदधीश्चेत्स्याद् भ्रान्तैव कथमेनया ।
पटाद्यवयवी सिद्ध्येत्प्रमालक्षणहीनया ॥२३॥

प्रत्ययान्तरतः सिद्धिः पटादेरित्यसङ्गतम् ।
पटादिवित्तौ न ह्यस्ति युगपद्वेदनद्वयम् ॥२४॥

क्रमेणाऽप्यत्र नैवास्ति वेदन-द्वय-दर्शनम् ।
पटादिग्रहतोऽन्यैवाभेदधीरित्यनिश्चयात् ॥२५॥

निश्चयात्मकमध्यक्षमिष्यते च परैस्ततः ।
पटादिग्राहकं न स्यादभ्रान्तज्ञान-हानितः ॥२६॥

किञ्च धी-द्वयमिष्टं चेदभेदप्रत्यये(यो) कथम् ।
अप्रतीते पटादौ स्यात्तदभेदे न धीरियम् ॥२७॥

तन्तवो हि पटीभूता इत्यादिप्रत्ययैः सदा ।
पटाद्यभेदवित्तिश्च न चाज्ञाते तथा ग्रहः ॥२८॥

तस्मादेकैव धीरत्र, साऽपि भ्रान्तैव, तत्कथम् ।
पटादिसिद्धिरभ्रान्तबुद्धितोऽभीष्टसिद्धिता ॥२९॥

पटाद्यसिद्धिपक्षे च यौगे सौगततुल्यता ।
भवत्येवेति तद्ग्राहि ज्ञानमभ्रान्तमिष्यताम् ॥३०॥

पटादावेव तद्ग्राहि ज्ञानमभ्रान्तमञ्जसा ।
निर्बाधत्वात्, न चाभेदे, समबाधत्व इत्यसत् ॥३१॥

एकबुद्धौ न युक्ता हि भ्रान्ताऽभ्रान्तस्वरूपता ।
विरोधादविरोधे स्यादेकस्यानेकरूपता ॥३२॥

तथा च गुण-गुण्यादेरभेदेऽप्यविरुद्धता ।
सिद्धेत्यभ्रान्तिरेवेयं गुण-गुण्याद्यभेदधीः ॥३३॥

ततो हेतोश्च सिद्धत्वं, साध्ये सत्येव सम्भवात् ।
अविना[भाविनश्चे]ति नास्यासिद्ध्यादिदूषणम् ॥३४॥

दृष्टान्ते साध्य-वैकल्यमपि नैवात्र सम्भवेत् ।
संख्यावत्त्वे गुणादेश्च परेषां ह्यविवादतः ॥३५॥

द्वौ गन्धौ, षड् रसा, द्वे च सामान्ये, बहवो मताः ।
विशेषाः, समवायः स्यादेक इत्यादिदर्शनात् ॥३६॥

वास्तवी न[गुणादौ स्यात् संख्या,]सा ह्युपचारतः ।
तेषां तत्र गुणादीनां तादात्म्यं च तयेत्यसत् ॥३७॥

असतो हि समारोप उपचारस्तथा सति ।
अभाव एव संख्यायाः पृथिव्यादौ च सम्भवेत् ॥३८॥

एकत्रास्या हि भाक्तत्वे नैवान्यत्रापि सत्यता ।
निर्बाधत्वेन सत्यत्वं [सम्मतं सर्ववादिनाम्] ॥३९॥

वास्तवी चेद् गुणादौ स्यात्संख्या, स्युर्गुणिनो गुणाः ।
गुणसूत्रे[1] गुणत्वेन संख्याया पठितत्वतः ॥४०॥

गुणादेर्गुणवत्त्वं च नेष्यते न्यायवेदिभिः ।
गुणाः स्युर्निर्गुणा इ[ष्टाः शास्त्रे हि न्यायवेदिभिः] ॥४१॥

---

१ "रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ।"—(वैशेषिकदर्शन-सूत्र १-१-६) इत्यत्र गुणप्रतिपादके सूत्रे ।

निर्गुणत्वं गुणादीनामद्रव्यत्वेन कर्मवत् ।
इतीयमनुमा तत्र बाधिका चेत्, तदप्यसत् ॥४२॥

कर्म स्यात्पञ्चधेत्युक्ते गुणवत्त्वं हि कर्मणाम् ।
ततः स्यात्साध्यवैकल्यं दृष्टान्तस्येह कर्मणः ॥४३॥

गुणवत्त्वे गुणादीनां द्रव्यत्वस्यैव सिद्धितः ।
अद्रव्य[त्वस्य] हेतोश्च स्यादसिद्धित्वमञ्जसा ॥४४॥

हेतोरस्माद्गुणादीनां निर्गुणत्वेऽस्य सिद्धिता ।
हेतोः, इत्यपि नैव स्यादन्योन्याश्रयदूषणात् ॥४५॥

निर्गुणत्वमतो हेतोर्गुणादीनां हि सिद्ध्यति ।
निर्गुणत्वस्य सिद्धेश्च तेषामद्रव्यता भवेत् ॥४६॥

तस्मान्न चेद्गुणादीनां संख्या, संख्यैव न क्वचित् ।
सिद्ध्येदिति गुणादेश्च संख्या-तादात्म्यमिष्यताम् ॥४७॥

किञ्चोपचारतः संख्या गन्धादौ चेत्तथा भवेत् ।
पृथक्त्वं चोपचारेण गुणत्वस्याविशेषतः ॥४८॥

ततो पृथक्त्वमेव स्याद्गन्धादेस्तद्वतो न किम् ।
पृथक्त्वस्योपचारे स्यादपृथक्त्वं हि वास्तवम् ॥४९॥

आकारभेदभावेन गन्धादेस्तद्वतो भवेत् ।
भेद एव पृथक्त्वस्यावास्तवत्वे हि नापरम् ॥५०॥

पृथक्त्वमेव गन्धादौ तद्भेदोऽपि न बुध्यताम् ।
वैलक्षण्यं स्वरूपस्य तद्भेदो हि विभाव्यते ॥५१॥

इत्यप्यसारमेवं हि पृथक्त्वं स्यान्निरर्थकम् ।
तद्वैलक्षण्यमात्रेण पृथिव्यादौ च भेदतः ॥५२॥

ततः पृथक्त्वमिष्टं चेद्वास्तवं, वास्तवी भवेत् ।
संख्याऽपीति गुणादेः, स्यात्तादात्म्यं च तयोः स्थिरम् ॥५३॥

न हि स्यात्समवायेन तत्सम्बन्धः, तथा परैः ।
अनुक्तत्वाद्, गुणादौ च द्रव्यत्वस्यानुषञ्जनात् ।।५४।।
समवायाच्च(यश्च)सम्बन्धः सम्बन्धादन्यतोऽथवा[1] ।
यत्र सम्बन्धनोऽयं स्यात् [संयोगोऽपि तथा भवेत्] ।।५५।।
न सम्बध्नात्यसम्बद्धः परत्रैवमदर्शनात् ।
समवेतो हि संयोगो द्रव्यसम्बन्धकृन्मतः ।।५६।।
समवायान्तरेणास्य सम्बद्धेऽप्यनवस्थितिः ।
स्वतः सम्बन्ध एवास्य सम्बन्धत्वेन चेन्मतम् ।।५७।।
यथा नान्योऽत्र सम्ब.........................दिरूपतः ।
स्वरूपमेव सम्बन्धः किं नैवं धर्मतद्वतोः ।।५८।।
किञ्चान्योन्याश्रयोऽपि स्यात्स्वतः सम्बन्धकल्पने ।
तद्धि सम्बन्धतासिद्धौ साऽपि तेनापि सिद्ध्यति ।।५९।।
सम्बन्धत्वं प्रतीत्यैव समवायस्य कल्प्यते ।
स्वतः सम्बन्धतो नेति [नान्योन्याश्रय] इत्यसत् ।।६०।।
अप्रतीतेरतिव्याप्तेरभेदप्रत्ययादपि ।
समवायो न तन्नास्य सम्बन्धत्वं प्रतीतितः ।।६१।।
समवाये प्रतीतिश्चेदध्यक्षमविवादता ।
निर्णयैकात्मना तेन ज्ञाते संशीत्ययोगतः ।।६२।।
सविकल्पकमध्यक्षं समवाये न चेद्यदि ।
[सविकल्प]कमस्तीति समवाये प्रतीतितः ।। ६३ ।।
इत्यसन्न हि तज्ज्ञानं दृश्यते क्वापि सौगतैः ।
उत्पमानमिवाध्यक्षं जडबुद्धिवदेव वा ।।६४।।

---

१ सम्बद्धो भवति तथाचानवस्थेति भावः ।

संश्लेषज्ञानमेवेह तद्वतोऽवयवैरिदम् ।
इत्यप्यसत्तयोरत्र तादात्म्यस्यैव निर्णयात् ॥६५॥
किञ्च सत्येव सम्बद्धविशेषणत्वसंज्ञके ।
सन्निकर्षेऽक्षजग्राह्यः समवायः परैर्मतः ॥६६॥
तद्विशेषणभ(भा)वे स्यात्समवायोऽयमाश्रितः ।
गुणादिवत्तथा चास्यानाश्रितत्वं कथं भवेत् ॥६७॥
समवायान्तरापेक्षे सम्बन्धे हि स आश्रितः ।
नैतत्सम्बन्धतश्चेत्किं तदपेक्षा स नेष्यते ॥६८॥
तदपेक्षे हि सम्बन्धे समवायस्य कल्पिते ।
न स्थितिः पुनरप्यन्यसमवायप्रसङ्गतः ॥६९॥
तद्विशेषणभावाख्यसम्बन्धे तु न च (चा?) स्थितः ।
समवा... ॥७०॥[1]

.... ।
तन्नो चेद्ब्रह्मनिर्णीतिरविवादा स्वतो भवेत् ॥५२॥
न चैवं दृश्यते तत्र विवादस्यैव दर्शनात् ।
तथा च ब्रह्मनिर्णीतिः स्वतः स्यादिति दुर्मतम् ॥५३॥

---

१ अस्य ग्रन्थस्योपलब्धैकमात्रमूडबिद्रीयताडपत्रप्रतौ पत्रसं० २३६ तः २४६ पर्यन्तम् । पुनः २५४ तमात्पत्रादारम्भः । एतन्मध्यस्थानि (२४७ तः २५३ पर्यन्तं) सप्त पत्राणि नोपलब्धानि । न ज्ञायतेऽत्र कियन्ति प्रकरणानि त्रुटितानि सन्ति । अत एवाग्रिमप्रकरणस्यापि आदि-भागो त्रुटित एवोपलब्धः ।

तदवस्था गता न स्यात्सापि निर्णीतिरित्यसत् ।
तेऽप्यविद्या···विहा स्युः सा ह्यविद्याऽत्र चर्चिता ॥५४॥

अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरविद्या सापि कस्य वा ।
न ब्रह्मजीवयोर्युक्ता केन तद्धानिरित्यपि ॥५५॥

परतः प्रमितत्वं चेद् ब्रह्मणः स्यादनित्यता ।
पूर्वमप्रमितस्यैव पश्चात्प्रमितता यतः ॥५६॥

तस्य प्रमितता नो चेत्तदस्तीति वचः कथम् ।
स्फुरणाच्चेत्तदर्थोऽपि न ह्यन्यस्वपरग्रहात् ॥५७॥

स्फुरणमेव चेद् ब्रह्म तदस्तीति वचः कथम् ।
स्फुरणाच्चेत्तदर्थोऽपीत्यादिचोद्यं न चक्रकम् ॥५८॥

स्फुरणं नाम भानं स्यान्न···············गमिति चेद्···म् ।
सर्वोद्भवमिदं ब्रह्म न विवादोऽत्र कस्यचित् ॥५९॥

इत्यसन्न हि तद्भानं सर्वभेद्येव दृश्यते ।
प्रत्यात्मभानभिन्नं हि निर्विवादं विलोक्यते ॥६०॥

उपाधिभेदतो भेदः कल्पितो नैव वास्तवः ।
न ह्याकाशस्य भेदः स्याद् घटाकाशादिभेदतः ॥६१॥

इत्यसद्भेदसंवित्तिर्भ्रान्तित्वात् कल्पिता भवेत् ।
जीवब्रह्मान्ययोर्नेति प्रा[गेव प्रति]पादनात् ॥६२॥

किञ्च कल्पित एवायं भेदस्तस्येति निश्चयः ।
मानाच्चेद् द्वैतमन्यस्मात् किन्नायं स्यादकल्पितः ॥६३॥

न ह्यप्रमाणतः सिद्धं किञ्चिदेवेति युक्तिमत् ।
तस्माद्धानस्य भेदः स्यादबोधात्तेन··········॥६४॥

निर्बाधे बाधशङ्कायां ब्रह्मण्यपि···············।
·····················त्स्वपराभ्यामिति स्थितम् ॥६५॥

अभावादसमर्थत्वादन्यसाम्यात्परस्य वै ।
तद्वित्तेरफलत्वाच्च तस्मान्न ब्रह्मवेदनम् ॥६६॥

एवं च न तदास्थेयमुपायोपेयवर्जितम् ।
··························द्वैतमद्वैतवादिनाम् ॥६७॥

परशब्दो································ ।
भेदः सर्वोऽप्ययं भ्रान्तो भेदत्वात्स्वप्नदृष्टवत् ॥६८॥

ब्रह्मरूपापरिज्ञानाद् भेदोऽयमवभासते ।
स्रक्स्वरूपापरिज्ञानाद्यथेयं भाति सर्ववित् ॥६९॥

स्रक्स्वरूपविदः पुंसो यथा व·············।
··························सर्वभेदधीरपि वर्तते[1] ॥७०॥

·············त्वा स्वयं नश्यच्च दृश्यते·········· ।
तथा ब्रह्मपरिज्ञानं कृत्वा नश्येत्परं च तत् ॥७१॥

नानेन द्वैतसिद्धिश्च सतः सा हि सदन्तति ।
अविद्यत्वादयं भेदः सदसत्वविलक्षणः ॥७२॥

चन्द्रद्वित्वावभासेन ज························ ।
·········द्यैव तदेकत्वे [2]सदेकान्ते परेण च ॥७३॥

इति चेत्तादृशः तस्माद् भेद एवात्मने (नो) भवेत् ।
अन्यदा(था)त्मा सदा मुक्तो न ह्यविद्यादभेदतः ॥७४॥

परस्मादिष्ट एव स्याद् भिन्नो मुक्ति(क्त)श्च यद्ययम् ।
स्यात्परस्याप्यतो भेदो न हि············ता ॥७५॥

---

१ 'नश्यति' हस्तलिखितायां 'ब' प्रतौ पाठः । २ अयं पाठो 'ब' प्रतावुपलभ्यते ।

द्विष्ठ[त्वाच्च] हि भेदोऽयं न ह्येकस्यैव यु[ज्यते] ।
पर्वतं ग्रामतो दूरे किमदूरः स पर्वतात् ॥७६॥

स्वर्णस्य रुचकादेः स्यात् तद्विनाशेऽप्यनाशतः ।
भेद एव न तस्यास्माद्विना स्वर्णमतद्दृशेः ॥७७॥

इति चेत्स्वर्णतो नित्यादभिन्ना रुचकादयः ।
किं नष्टास्तेषु चेन्न··················नाशवत् ॥७८॥

नापि स्वर्णादिरूपस्य नाशस्तद्रूपनाशतः ।
सर्वथा न हि नाशोऽस्ति दीपो हि तिमिरात्मना ॥७९॥

मिथस्तद्द्वयभेदेऽपि न ब्रह्मपरयोरयम् ।
यतो निर्वचनीयत्वं भेदान्याभ्यां तयोः स्थितम् ॥८०॥

अविद्यत्वात्परस्येति यद्·············सति ।
न ब्रह्मनित्यनिर्मुक्तं तथा तस्याविनिश्चयात् ॥८१॥

कुतो ब्रह्मणि मुक्तत्वमनिर्णीतं तदेति चेत् ।
अविद्याख्यपराद्भेदे तस्यावाच्येऽत्र संशयात् ॥८२॥

तस्मान्निरर्थिका, ब्रह्म सच्चिदानन्दरूपकम् ।
इत्यादिश्रुतिराविद्यारूपस्याप्यत्र सम्भवात् ॥८३॥

आविद्यतो हि निव·························ते ।
तदभेदे कथं तस्य सर्वथा मुक्तिसम्भवः ॥८४॥

तन्मुक्तमेव चेद् ब्रह्म भिन्नं चाविद्यतस्ततः ।
तस्याभावो विरूपं स्यादितरेतरसंज्ञि(ज्ञ)कः ॥८५॥

तस्मिन् सति सदेकान्तरूपं ब्रह्म न सिद्ध्यति ।
तस्याभावेऽपि रूपे किं सदेकान्तस्वरूपतः ॥८६॥

तत्सदेकान्त··························च्छता ।
आविद्यञ्च परं न स्या··························॥८७॥

आविद्यादिपरात्तस्य भेदादौ यद्यवाच्यता ।
नास्य तन्मुक्तिनिर्णीतिर्वाच्यैतत्तदभाववत् ॥८८॥
यद्वत्वे च सदेकान्तरूपं ब्रह्म न सिद्ध्यति ।
इति सङ्कटसम्पत्या नह्याविद्यं प········॥८९॥
किञ्चैवं परतः सिद्धं ज्ञान(ना)द्वैतं न किं[भवेत्] ।
··················दन्यत्रापि हि तत्समम् ॥९०॥
आविद्यं तत्र चेत् किन्न ज्ञानाद्वैतेऽपि साम्प्रतम् ।
आविद्यादिव न द्वैतं परतोऽपि हि सांवृतात् ॥९१॥
किञ्च प्रमाणतः सिद्धिरभीष्टस्याप्रमाणतः ।
सिद्धे सर्वमतस्यापि वाङ्मात्र··········॥९२॥
············प्रमाणं स्यादन्यथा तत्त्वहानितः ।
अभेदाद्यप्रमाणत्वादन्यथानुपपन्नता ॥९३॥
यत्साधकतमत्वेन प्रमितेः करणं भवेत् ।
प्रमाणता हि तस्यैव तथाऽव्युत्पत्तिभावतः ॥९४॥
अव्युत्पत्त्यादिविच्छित्तिः प्रमित(ति)श्च न चापरा ।
न ह्य ·················विपर्यस्तप्रमेयता ॥९५॥
तद्विच्छित्तिर्न नीरूपप्रवृत्तेरपि भावतः ।
निवृत्तिवृत्तिरूपं हि सर्वं वस्तु तथेक्षणात् ॥९६॥
सा चेन्निवृत्तिरूपैव नीरूपा स्यात्परैव चेत् ।
अव्युत्पत्त्यादिरूपापि स्यात्ततः स्याद्विरूपता ॥९७॥
तत्साधकतमत्वं स्यात् तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः ।
अन्यरूपात्क्रियात्वं तत्क्रिया-कारकभावतः ॥९८॥
घटं बुद्ध्वा पटं वेद्मीत्यन्वयात्प्राक् च सा प्रमा ।
ततः प्रागपि भावः स्यात्कारकस्येति सुस्थितम् ॥९९॥

यत्साधकतमं तस्याः तच्च स्यात्तदभेदि वै ।
घटादिस्तत्तमं ह्रीष्टं तदभेदि मृदादिकम् ॥१००॥
न चक्रमित्यभेदित्वमचिविशिचत एव हि ।
समितिर्ननु चिद्रूपा न ह्येषा स्यादचिन्मयी ॥१०१॥
किञ्च स्यात् कस्यचिद्ध्वंसो विरुद्धार्थमसौ यथा ।
प्रका.. ..॥१०२॥
[प्र]मितं चक्षुषेत्यादिप्रयोगस्तूपचारतः ।
प्रमीयते यथाक्षेण खमित्यादिप्रयोगवत् ॥१०३॥
संशयादिधियो नैव सम्यग्ज्ञानत्वसम्भवः ।
तत्त्वे हि तदसम्यक्त्वं नाम्नैव न चार्थतः ॥१०४॥
ततः स्थितं प्रमा.................................. ।
....................णं स्यान्नाचिदादिकमित्यपि ॥१०५॥
तथोपपत्तिरेव स्यादन्यथानुपपन्नता ।
पर्युदासनञर्थत्वादिति कस्याश्च सिद्धिता ॥१०६॥
सम्यग्ज्ञाने प्रमाणे च तज्ज्ञानं ब्रह्मणो यदि ।
स्वतो वित्तिरिति, प्राप्तं प्रागुक्तं तत्र[दूषणम्]॥१०७॥
....ज्ञो ब्रह्मणो यदि ।
भवेद् गत्यन्तराभावाद् ब्रह्मैव जीव एव वा ॥१०८॥
ब्रह्मैव चेत् सतो च्चित्तादुक्तदोषोऽन्य एव चेत् ।
ब्रह्मणो भाव एव स्यादिति स्यात्स्वमतच्युतिः ॥१०९॥
यद्यभेदः कथञ्चित्स्यादविद्या..........................।
....कथम् ॥११०॥
भिन्नः सन्नेव जीवश्चेद् द्वैतमाविद्यरूपकः ।
यद्यसौ.................................ज्ञानसम्भवः ॥१११॥

भेदान्यद्वयरूपैश्चेत्तस्यानिर्वचनीयता ।
आविद्यरूपसन्देहान्नास्य मुक्तत्वनिर्णयः ॥११२॥

....।
तत......सत्वर.......शक्तेर्न युक्तो ब्रह्मनिश्चयः ॥११३॥

प्रमितिर्वा प्र.................................दूषणम् ।
सापि ब्रह्मण एव स्याज्जीवस्यैव हि वा भवेत् ॥११४॥

प्रमाणं चेत्स्वतन्त्रं स्याद्द्वैतं मिथ्यैव तद्यदि ।
ब्रह्मैव प्रमितं.....................................॥११५॥

...............च न तत्रैव....................।
प्रमितं ब्रह्म नान्येन यद्यस्य कथ..........॥११६॥

..............चेत्तदर्थोऽपि स्वतः परत एव वा ।
तद्भानं न निषिद्धोऽभून्नान्यो गत्यन्तरात्ययात् ॥११७॥

स्वतन्त्रं यदि तद्भानं द्वैतं तत्.........................।
.......................थं हि.................................॥११८॥

.......................त्स चिच्चेत् स्यादाविद्यस्वरूपतः ।
तथा चाभेददोषः स्याद् वक्ष्यते चात्र दूषणम् ॥११९॥

तस्मात्स्फुरणमित्येतत्पदमान्ध्यादुदीरितम् ।
परतो ब्रह्मवित्तिश्च तदशक्तेरिति स्थितम् ॥१२०॥

अपि चा...।
.......न्यवाक्याच्च ब्रह्मणो निर्णयो भवेत् ॥१२१॥

ब्रह्मणः प्रतिवादित्वं वेदस्यैव यदीष्यते ।
तत्त्वं तन्निर्णयोत्पादो वेदस्यापि न चापरम् ॥१२२॥

आविद्यरूपतैव स्याद् वेदस्यापि परत्वतः ।
नो चेत्तस्य परत्वञ्च तस्यापि ब्रह्मता भवेत् ॥१२३॥

.... ।
तत्रोक्तं दूषणं नापि प्रत्यक्षादिसदत्ययात् ॥१२४॥

प्रत्यक्षादेः प्रमाणत्वात् ज्ञानत्वं हि तथा सति ।
तज्ज्ञानं ब्रह्मणो न स्याज्जीवस्याप्युक्तदूषणात् ॥१२५॥

ततो गत्यन्तराभावे वेदात् स्याद् ब्रह्मनिर्णयः ।
आ.. ॥१२६॥

ततो ब्रह्मपरिज्ञानं वेदादुत्पत्तिमिच्छताम् ।
तद्भवेदन्यवाक्यादप्याविद्यकाविशेषतः ॥१२७॥

विशेषस्तत्र चास्त्येव कार्यभेदविलोकनात् ।
न हि मृत्यादिकं कार्यं पथ्यादि(दे)रपि दृश्यते ॥१२८॥

इति चेन्न तु तत्का.................................. ।
..............................र्यभेदोऽपि युज्यते ॥१२९॥

आविद्ये शक्तिभेदश्चेत् सत्त्वमेवास्य युज्यते ।
शक्तिव्याप्तं हि सत्त्वं स्यात् तन्नाविद्यस्य शक्तता ॥१३०॥

अशक्तत्वाविशेषेऽपि वेदादाविद्यरूपतः ।
ब्रह्मज्ञानसमुत्पत्तौ साऽन्यवाक्याच्च सम्भवेत् ॥१३१॥

तथा ब्रह्मविदः.................................. ।
..........................भवतीति श्रुतिः.......... ॥१३२॥

इति ब्रह्मस्वरूपस्य परेषां प्रतिपादकम् ।
व्यर्थं वेदादिशास्त्रं स्यान्न ह्यब्रह्मविदः परे ॥१३३॥

किञ्च ब्रह्मपरिज्ञाने तज्ज्ञाने ब्रह्म वा फलम् ।
यद् ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति श्रुतिः श्रुता ॥१३४॥

ब्रह्मैव यदि.. ।
.......रूपेण ति.................................भवेत् ॥१३५॥

भेदविभ्रान्तिविच्छेद(दः)स्वज्ञानस्य फलं यदि ।
स्वस्यैव यदि सा भ्रान्तिर्नित्यैवेति न तच्छिदे ॥१३८॥[1]

किञ्च वादश्चतुर्थः स्यादाविद्योऽन्यत्वहानितः ।
ब्रह्मणस्तेन भेदादौ स्यात्परस्योक्तदूषणम् ॥१३९॥

....भेदतः ।
तज्ज्ञातृत्वमविद्या च मुक्त्या जीवस्य चेदसत् ॥१४०॥

जीवा..................ब्रह्मविज्ञानसम्भवः ।
इत्यर्थः प्रागुपन्यस्तः तद्भ्रान्तिश्चास्य नो भवेत् ॥१४१॥

अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिर्न हीयमचितो भवेत् ।
चा...॥१४२॥

.. ह्याविद्यरूपत्वाच्चिदचिद्भ्यां विलक्षणा ।
सा चिद्भवेति जीवस्य तद्ब्र..................॥१४३॥

ततोऽस्य ब्रह्मविज्ञानं तद्भ्रान्तिश्च न सम्भवेत् ।
तदभावान्न तज्ज्ञानाद्ब्रह्म नापि फलं भवेत् ॥१४४॥

किं चास्य ब्रह्म.....................................।
...........स्याद्ब्रह्मानित्यं च तत्क्षये ॥१४५॥

भेदः प्रागपि नो चेत्स्या........................भवेत्(?)।
जीवयुक्तं वाच्यस्व........जीवादेः साप्यनिश्चिता ॥१४६॥

ब्रह्मणा तस्य तादात्म्यं तद्भेदादि च दूषितम् ।
तन्न ब्रह्मपरिज्ञानात्फ...........................॥१४७॥

---

१ ताडपत्रप्रतौ १३८ आदिक्रमसंख्या दत्ता । तद्धाने लेखकस्य भ्रान्तिः प्रतीयते । अथवा कारिकाद्वयं लेखनात्स्यक्तमिति ज्ञायते ।—सम्पादक ।

..............यं निर्बाधे प्रत्ययत्वतः ।
ब्रह्मवन्न हि तत्सत्त्वे[चा]प्यन्यदनिबन्धनम् ॥१४८॥

इत्यतो भेदसत्त्वे स्याद्भ्रान्तो(न्ता)भेदधीः स्फुटम् ।
ततस्तद्भ्रान्तिविच्छेदोऽप्ययुक्तं ब्रह्मधीः फलम् ॥१४९॥

शुक्तिका-रूप्यवन्मिथ्या दृश्यत्वा....................।
....भावहानितः ॥१५०॥

अन्यथा प्रतिभासत्वात्तद्वद्ब्रह्माप्यसद्भवेत् ।
तद्रूप्ये प्रतिभासत्वं दृश्यत्वमिव हीक्षते ॥१५१॥

निर्बाधप्रतिभासत्वं ब्रह्मणीव परत्र च ।
तन्नास्मादनुमानाच्च तद्धेतोरस्ति बाधनम् ॥१५२॥

....।
विश्वभेदो भवेत्तोयतरङ्गेष्विन्दुभेदवत् ॥१५३॥

यथैव तत्तरङ्गेषु चन्द्रश्चन्द्र इति स्फुटम् ।
अभेदेनानुविद्धत्वाच्चन्द्रभेदो मृषा मतः ॥१५४॥

तथा घटादिभेदोऽपि सत्सदित्याद्यभेदतः ।
अनुविद्धो मृषैवे..............................॥१५५॥

............रित्वं तद्धेतोः स्यान्निरङ्कुशम् ।
हेतु-साध्यादिधीभेदे वास्तवेऽप्यस्य दर्शनात् ॥१५६॥

धीरियं धीरियं चेति तदभेदानुविद्धता ।
तद्धीष्वपि हि दृष्टेति तद्धेतुस्तत्र चेद्यते ॥१५७॥

यद्यवास्तव एवायं तद्धीभेदोऽपि सं.......।
....वास्तवम् ॥१५८॥

ततो भेदाऽमृषात्वं च न भवेदेव वास्तवम् ।
न हि हेतोर्मृषात्वे स्यात्तत्कार्यं चापि वास्तवम् ॥१५९॥

दृष्टं हेतुमृषात्वेऽपि वास्तवं मरणादिकम् ।
मिथ्याहिदंशनादेश्च वास्तवस्यास्य दर्शनात् ॥१६०॥
....द्भिः ।
इदं कार्यमिदं कार्यमित्यमीष्वन्य भेदतः ॥१६१॥
अमृषाकार्यनिष्पत्तिर्मृषार्था .... ।
कार्याणाममृषात्वं च वास्तवं नेत्ययुक्तिकम् ॥१६२॥
अमृषाकार्यनिष्पत्तौ मृषाभूतान्निमित्ततः ।
....पि ॥१६३॥
लोकप्रसिद्धितस्तेषां मृषात्वे न ...द्ध्यति ।
तयैव व्यभिचारित्व[मपि क]स्मान्न मृष्यते ॥१६४॥
वस्तुतो व्यभिचारित्वं ततश्चेन्न प्रसिद्ध्यति ।
दृष्टान्तत्वं कथं तस्यावस्तुभूतं प्रसिद्ध्यति ॥१६५॥
वस्तुवृत्त्या तदप्येतद्...................................।
.....................स्तु तद्बलान्नोपकल्पितम् ॥१६६॥
विश्वभेदमृषात्वस्य यतस्तस्माद्व्यवस्थितिः ।
न ह्यवस्तुबलात् किंचिन्मेयं शक्यनिरूपणम् ॥१६७॥
तत एवान्यथा विश्वभेदयाथात्म्यनिर्णयात् ।
कुतश्चित्तन्मृषावादः क्वास्पदं प्रतिपद्यताम् ॥१६८॥
....भुवि ।
त[न्मृषा] विश्वनिर्णीतिर्यत्तवैवेति कल्प्यताम् ॥१६९॥
तस्माद्वास्तवमेवेदमनुमानं ततोऽन्यथा ।
अन्ययोगव्यवच्छेदिसाध्यसिद्धेरयोगतः ॥१७०॥
तथा च वास्तवं किन्न कार्यं च मरणादिकम् ।
तस्मादवस्तुदृष्टा.......................................॥१७१॥

……च कार्येषु तैरेव व्यभिचारिता ।
तद्भेदासत्त्वसाध्यस्य हेतोः स्यात्सुव्यवस्थिता ॥१७२॥

विद्ययाऽविद्यया चास्य व्यभिचारस्तयोरपि ।
इयं विद्येयमन्येति किं नाभेदानुबद्धता ॥१७३॥

न हि विद्या विभिन्नेयमविद्याऽस्तीति …… ।
…………………………त् त्तयात्मिका ॥१७४॥

कल्पितो यदि संसारो न तस्य ब्रह्मकल्पकम् ।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिः कल्पना साऽस्य किं भवेत् ॥१७५॥

प्राच्यतद्रूपसंसारः कल्पकोऽस्यापि तादृशः ।
तस्याप्येवं प्रबन्धोऽयमनादिः सैव संसृतिः ॥१७६॥

इ…………………………………………… ।
तद्धेतोर्व्यभिचारित्वं तद्भेदस्तु वास्तवात् ॥१७७॥

तद्भेदेऽपि मृषात्वं चेत्कथं तद्रूपसंसृतिः ।
इत्यादेः पुनरावृत्तेरनवस्था महीयसी ॥१७८॥

विद्यान्तराद्धि विद्याया भेदादिरपि युज्यते ।
अविद्याया…………………………………… ॥१७९॥

अविद्यायाः स्वभावो यो विद्यायाश्च स एव चेत ।
साऽप्यविद्यैव विद्याया वार्ताऽपि क्वोपलभ्यताम् ॥१८०॥

विद्यायाश्चेत्स्वभावोऽन्यो वास्तवः परिपठ्यते ।
अविद्यातः प्रथग्भावः कथमेतन्निषिध्यताम् ॥१८१॥

स्वभाव…………………………………… ।
भावेषु यस्मात्तन्नेयं चर्चितार्था वचो गतिः ॥१८२॥

ततो वास्तव एवायं भेदो विद्याऽन्ययोस्तथा ।
व्यभिचारश्च तद्धेतोरित्यबाधैव भेदधीः ॥१८३॥

ततः सन्नेव भेदोऽयं निर्बाधप्रत्ययत्वतः ।
निर्बाधे वा.............................. ॥१८४॥

ततस्तत्प्रत्ययादेव सत्त्वं ब्रह्मणि वाञ्छताम् ।
वाञ्छत्र्यभेदेऽप्यतः सत्त्वं ब्रह्मसत्त्वं च नान्यथा ॥१८५॥

तद्भेदसाधनादस्माद्भेदसत्त्वे च नो भवेत् ।
ब्रह्मेति तदभावाच्च न स्याद्ब्रह्मविदां फलम् ॥१८६॥

ततो [ब्रह्मवादोऽयमसिद्धः पर-कल्पितः] ।
प्राज्ञैर्नैव परिग्राह्यः शून्यैकान्त इवाञ्जसा ॥१८७॥

शून्यैकान्तोऽपि तद्वत्स्याद् दुष्टो न ह्यस्य सिद्धता ।
सर्वशून्यमिवादेमि(न्याविवादे हि)शून्यज्ञानमकल्मषम् ॥१८८॥

तत स्याद्वादिनामेव सफलः सकलो विधिः ।
नित्यादौ.............................. ॥१८९॥

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरि-विरचितायां स्याद्वादसिद्धौ ब्रह्मवादिनं

[प्रति ब्रह्मदूषण-सिद्धिः]

तद्वादो धर्मिणो धर्मैः सत्त्वाद्यैः सेतरैः कथम् ? ।
परस्परविरुद्धे स्यात् भेदाभेदप्रकल्प.......... ॥१॥

....म् ।
परस्परं विरुद्धत्वादिति चेदिदमप्यसत् ॥२॥

भिन्नोपाधिनिमित्तत्वात् सत्त्वादेरविरुद्धता ।
तस्मादेकस्य धर्मस्य विधावन्यस्य हि स्थितिः ॥३॥

बौद्धैरप्येवमेष्टव्यं कार्यकारणताऽन्यथा ।
पूर्वापरक्षणापेक्षा न स्या[देकस्य वस्तुनः] ॥४॥

··············श्च कार्यं तु न हि कारणम् ।
तथापि तद्द्वयं स्यात् किं न [हि]सत्त्वादिकं सकृत् ॥५॥
अन्यापोहादभीष्टश्चेद् धर्मभेदस्तथा भवेत् ।
साङ्कर्यं सर्ववस्तूनां नीरूपोऽयं हि सर्वगः ॥६॥
गौश्चेदश्वाद्यपोहात्स्यात् ························।[1]

1 मूडबिद्रीयजैनमठग्रन्थालयगत ६०१ संख्याङ्किते ताडपत्रीयग्रन्थे प्रस्तुत'स्याद्वादसिद्धि'ग्रन्थः पत्रसंख्या २३६तः प्रारभ्य पत्रसंख्या २५१ पर्यन्तमपूर्ण एवोपलभ्यते । तत्र २४६ तः २५३ पर्यन्तं मध्यस्थानि सा पत्राणि त्रुटितान्यपि विद्यन्ते ।—सम्पादक ।
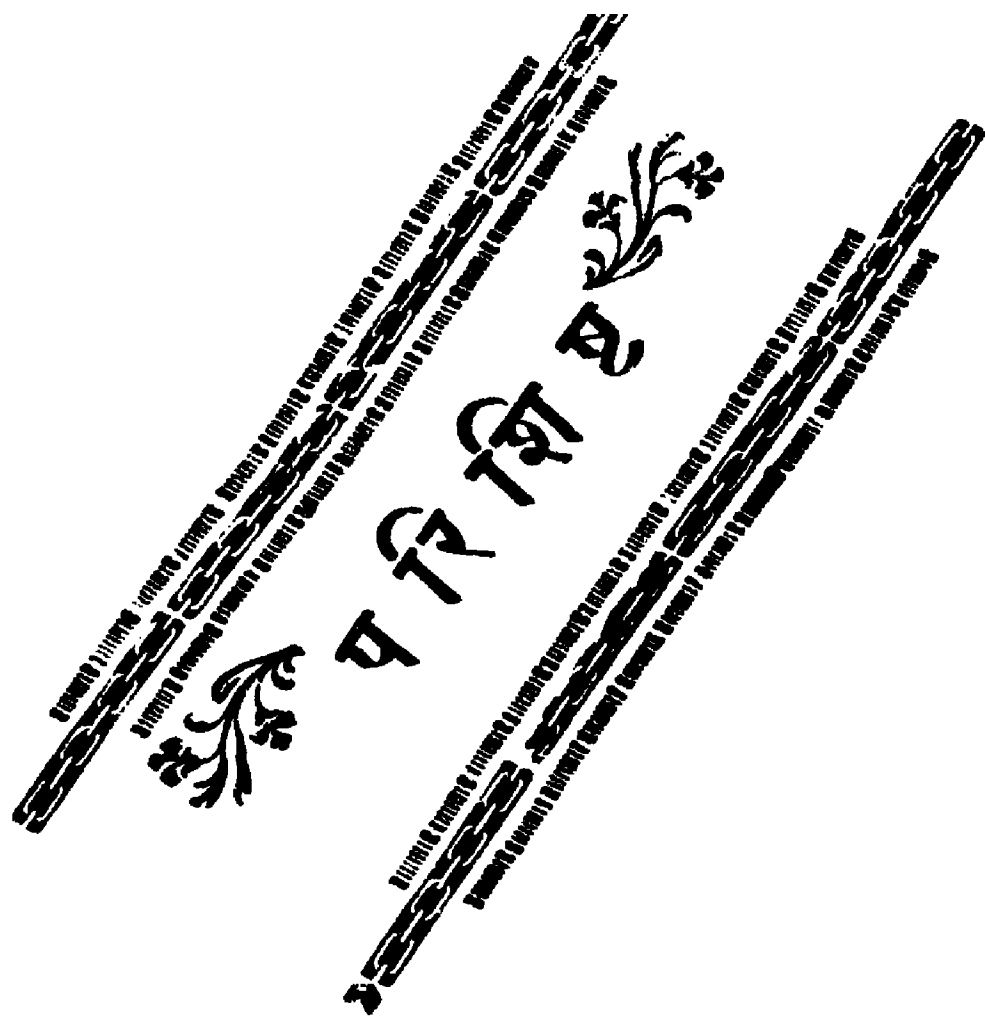
परिशिष्ट

परिशिष्ट

१. स्याद्वादसिद्धिकारिका प्रतीकानुक्रमणी

—:—:—

* संख्याङ्काः पृष्ठसूचका ज्ञातव्याः ।

२. स्याद्वादसिद्धिगतानां व्यक्ति-सिद्धान्त-सम्प्रदायादि-बोधकविशेषनाम्नां सूची

माणिकचन्द्रजैनग्रन्थमाला

उपलब्ध ग्रन्थोंकी सूची

८	प्रद्युम्नचरित	॥)
२०	भावसंग्रहादि	२।)
२१	सिद्धान्तसारादि	१॥)
२२	नीतिवाक्यामृत	१।॥)
२४	रत्नकरंडश्रावकाचार	२)
२५	पंचसंग्रह	॥।-)
२६	लाटीसंहिता	॥)
२७	पुरुदेवचम्पू	॥।)
२८	जैनशिलालेखसंग्रह	२)
२९	पद्मचरित प्र. खंड	१॥)
३०	,, द्वि. खंड	२)
३१	,, तृ. खंड	२)
३२	हरिवंशपुराण प्र. खंड	१॥)
३३	,, द्वि. खंड	१॥)
३४	नीतिवाक्यामृत (परिशिष्ट)	।)
३५	जम्बूस्वामिचरित	१॥)
३६	त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र	॥)
३७	महापुराण प्र. खंड	१०)
	,, रामायण	२॥)
३८	न्यायकुमुदचन्द्र प्र. खंड	८)
३९	,, द्वि. खंड	८॥)
४०	वरांगचरित	३)
४१	महापुराण द्वि. खंड	१०)
४२	,, तृ. खंड	६)
	,, हरिवंशपुराण	२॥)
४३	अंजनापवनंजय	३)
४४	स्याद्वादसिद्धि	१॥)

[नोट—जो नम्बर छूटे हुए हैं उन नम्बरोंके ग्रन्थ अप्राप्य हैं।]